

एक
आसक्तिव्यक्त
की
डायरी

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

एक असाहित्यिक की डायरी

(१)

नयाकर ५५-१०-१९६६



प्रीति मन्दिर प्रकाशन

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

एक
असाहित्यिक
की
डायरी

© लेखक

☐ प्रकाशक : रानी भसीन
प्रीति-मन्दिर-प्रकाशन
१/६८१६, बाबरपुर मार्ग
रोहतास नगर, शाहदरा
दिल्ली-११००३२

☐ प्रथम संस्करण : १९८८

☐ मूल्य : पचास रुपये मात्र

☐ आवरण : मार्टिन

☐ मुद्रक : पद्मज प्रिण्टर्स
मौजपुर, दिल्ली-११००५३

निराला
के
कलकत्ता प्रवास के साथी, साक्षी,
आचार्य परमानन्द शर्मा
को
जो मेरे भी अनन्य थे; मुझे निराला के
समान ही मानते थे ।

१४ जून '८८

चिरकृतज्ञ
जानकीवल्लभ शास्त्री

काँच की छतरी

विवशता से जैसे तब बँधा था, रंग बदलते हुए समय के साथ टूटते-जुड़ते हुए, अब भी वैसे ही बँधा हूँ ।

खास कुछ कहने के लिए जब भी सब से अलग खड़ा हुआ कि साफ-सुथरी भाषा में कुछ साफ-साफ कह सकूँ, कोई एक परिधि आगे आ गई । परिधि एक-से 'ठोस' विचार वाले जुझारू गिरोह की होती थी जिसे कोई दूसरा दमदार गिरोह ही तोड़ सकता था ।

युग 'स्वान्तःसुखाय' लेखन का नहीं है । हवा का रुख पहचानते ज़िन्दगी हवा हो गई । चढ़ती-उतरती बाज़ारू कीमतों से टकराना अपने बस का रोग नहीं है । सो निजता बचाने की कीमत चुकानी पड़ी—अँधेरी तनहाइयों में रहकर; उथली गहराइयों में ऊभ-चूभ होकर । बुनियादी सरोकारों से सुलह सम्भव न हुई ।

पछतावा मैंने नहीं लिखा है । अपना मज़ाक उड़ाने का एक और ही मज़ा है । दूसरों के उड़ाए मज़ाक का नतीजा बदस्तूर मालूम होने पर भी वक्त का जायजा ही लेता रहा, वक्त की सख्त चेतावनी तक अनसुनी कर दी ।

X

X

X

तो...वक्त इजाज़त दे न दे, मैं बेसब्री से इन्तज़ार करने का कायल न रहा । देखा, सब को तो अपनी-अपनी पड़ी है । हर तरफ़ हाय तौबा ही मची दिखती है । बिफरे माहौल के मुखर स्वर ने चुपचाप जीना दूभर कर दिया है । जिधर देखो उधर ही, थोथे तर्कों की चपेट में माथा होता है और दिल को लगा होता है किसी न किसी 'इज्म' का काला जादू । यों तो डान जुआन या लेडी चैट-लॉज़ लवर भी किसी न किसी वाद के अन्तर्गत हो सकते हैं; किन्तु केवल बौद्धिक विश्वास की कसौटी पर जीवन का खाँटी या खोटा सोना, अपने समग्र सौन्दर्य या विद्रूपता के साथ, परखा जा सकता है क्या? जीवन काव्य और कथानक के माध्यम से ही नहीं प्रकाशित होता, वैसे कलात्मक अभिव्यक्ति का ऐसा कौन-सा प्रकार है जिसमें काव्य या कथा के तत्त्व प्रकट या प्रच्छन्न रूप में नहीं रहते ?

भावुक होना अच्छा हो चाहे बुरा, कुछ लोग होते ही होते हैं । जीवन की

रन्ध्रहीन कर्म-सङ्कुलता में भी जानते-अनजानते कोई फाँक पड़ जाती है, जिससे किसी फूल की सुगन्ध या किसी पंछी की टेर अन्दर आ जाती है और मन पहले-जैसा नहीं रह जाता। काम में यन्त्रवत् जुटा रहना कठिन हो जाता है। सुगन्ध भूली-बिसरी सुधियों को ताजा कर देती है; पंछी की टेर कोई सोई पीर जगा देती है।

जो भावुक नहीं हैं, वह इसे ठाले बैठने का बहाना समझ कर ढाल जाते हैं। स्थायी साहित्य ऐसों के लिए है?

जो सपने बुनते हैं, वह भी बैठे ठाले नहीं होते। तथ्य उजागर करने वाले जीवन को ठोस आँकड़ों में आँकते हैं; सपने सँजोने वाले जीवन के सूक्ष्म तारों को साँसों से छूते हैं,—सत्य और कैसे स्वरित होता है?

आगे साहित्य कालजयी और युग की अनुबद्ध सीमाओं से ऊपर उठा होता था तभी साहित्यकार के यशः शरीर को अजर अमर कहा गया। यह और है कि देश और काल सूक्ष्म रूप में प्रतिभा को प्रभावित करते हैं, तभी कालिदास के साहित्य से निराला का साहित्य भिन्न है। प्रभावित करने का यह अर्थ कदापि नहीं कि कमल के अन्तस्तल में कीचड़ की भी गन्ध घुली रहे!

भावना, कल्पना और अनुभूति का उदात्त संगम कालिदास की कृतियों में सर्वत्र विद्यमान है; किन्तु निराला का युग विद्रोह, विक्षोभ और वैचारिक संक्रमण का था। उन्हें कालिदास के आध्यात्मिक सौन्दर्य को जीवन के बाह्य और आभ्यन्तर द्वन्द्वों की धूल-धूप से बचाने की छूट न थी। वह कालिदास के स्तर के शिल्प

श्याम तन, भर बँधा यौवन,

नत नयन, प्रियकर्म-रत मन

को नए द्वन्द्वों से जोड़कर अपने युग से जुड़ जाते हैं :

गुरु हथौड़ा हाथ, करती बार-बार प्रहार,

सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

कला-साधना में पुरातन से अधुनातन में प्रवेश कदाचित् इसी लक्ष्य-अलक्ष्य क्रम से होता आया है।

परम्परा को अब अन्ध-विश्वास की भाँति कठोर आलोचना के योग्य माना जाता है। नया निर्माण उसकी सर्वथा उपेक्षा कर अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्र पहचान बनाने के पक्ष में है। मुझे यह मूर्तिभञ्जक आयास तोड़-फोड़ वाले विध्वंसक संघर्ष के ही योग्य प्रतीत होता है। नव निर्माण सम्भवतः इसका अगला कदम है। निर्माण ऐसा असहिष्णु नहीं होता।

निराला ने स्वच्छन्द छन्द के लिए क्या न सहा, जब लोग थोड़ा-बहुत उसका आस्वाद लेने लगे, वह गीतिका के गीत और तुलसीदास, राम की शक्ति-पूजा—जैसी छन्दोबद्ध महत्तर कृतियों के यशस्वी सर्जक बन गए। एक बार नये पत्ते के जमाने में फिर चित्त दोलायमान हुआ, इस बार एकबारगी लयात्मकता का मोह छोड़ दिया, पर जल्दी ही—

बाँधो न नाव, इस ठाँव बन्धु,
पूछेगा सारा गाँव बन्धु।'

का झोंका आया और फिर वही जीवन की अन्तिम साँस (कविता) तक खुशबू फैलाता रहा।

नजरूल की 'आमि बिद्रोही भूगु' तक ही सीमा न थी। सुकान्त भी टैगोर के प्रतिपक्षी न थे। उनकी छोड़ी परती जमीन को जोत-बो कर लहलही फसल उगाने वाले ही थे। यह हरित क्रान्ति शायद भूखों का पेट भी भरती थी। टैगोर की क्रान्तदर्शिता कभी न भरने वाले पेट में नहीं पैठती थी। वेद-उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित आत्मा या कालिदास के मन-प्राण उनके विश्वव्यापी कवित्व के केन्द्र-बिन्दु थे। ए बार फिराओ मोरे, पुरातन भूतय और हुई बिघा जमीन' भी उदर रोग की दवाएँ नहीं हैं। यों धरती को ऐसी निविड़ आत्मीयता से प्यार करने वाला विश्व के स्तर पर भी कदाचित् ही कोई कवि होगा। 'स्वर्ग हड़ते विदाय' अथवा 'प्राण'—जैसी कविताओं में तो उनकी यह अन्तरङ्गता सतह तक उफ़न आई है। कवि-कर्म को मानव-धर्म का दर्जा देते रहे थे वह। उन्होंने कला को कभी भी जीवन से विच्छिन्न नहीं माना। उनकी रचनाओं को अलौकिक और रोमैटिक कह कर टालना अपनी बहकी हुई बोली और बद-मिजाजी का ही परिचय देना है। परम्परा को बिना नकारे जितना नयापन उन्होंने दिया है वह इसी से सही ढंग से मापा जा सकता है कि जिन देशों के फ़लसफ़ों के भरोसे हम अपनी बुनियाद हिलाने पर तुले हैं, वे देश लाखों-करोड़ों की संख्या में छाप-छाप कर उनका साहित्य पढ़ रहे हैं।

सच तो यह कि साहित्य-सर्जना कोई हादसा नहीं है, वह तो जैसे विन्ध्य के बाद अनेकानेक सम्भावनाएँ लिए हिमालय का उज्ज्वल आविर्भाव है; भरी नदियों से नहर निकाल लेने का कौशल भर नहीं है, सतत रस-वर्षण से कहीं अन्तर्हित हुई सरस्वती का भी अपरोक्ष आभास देने रहना है।

रचना इकलौती चेतना का इकतरफ़ा प्रकाश शायद नहीं होती। मक्खियों का एक झुण्ड मिल कर छत्ते का निर्माण करता है। इञ्जीनियरों, राज-मिस्त्रियों

और कुली-मजदूरों की मदद से इमारतें खड़ी होती हैं। रचना की यही सर्वमान्य प्रविधि हो सकती है, भले ही वह साहित्य की रचना हो अथवा समाज, राष्ट्र या समग्र विश्व की। मैं समझता हूँ, यह ज्ञात-अज्ञात पारम्परिक समग्रता साहचर्य के अभाव में सम्भव नहीं है। इससे मौलिकता के पैरों तले से धरती खिसकनी नहीं चाहिए, न ही इससे मौलिकों की कतारों और स्तरों में सिकुड़न पैदा होनी चाहिए।

रचना के सहयोगी तत्त्व ऐसे निर्माण-दक्ष हों जो धुन्ध और कोहरे से भी किरण ढूँढ़ निकाल लाएँ; सर्जना के प्रत्येक कार्यकलाप को संक्रमणशील वाणी दें। तनावपूर्ण सन्दर्भ की नई यथार्थता को भी लचीलेपन की अपेक्षा होती है।

यह दृष्टि वस्तुनिष्ठ निर्माण के लिए विशेष रूप से उपादेय है; किन्तु एक कारगर दृष्टिकोण आत्मनिष्ठता का भी होता है। लिरिक उसी की देन है। इसमें सामूहिक अध्यवसाय अनावश्यक है। इसमें बाह्य का विपुल विस्तार अन्तर में सिमट कर अपना बन जाता है। बाह्य विश्व से अभ्यन्तर में उतर कर पहले वह अपना पुराना रूप-रंग खो देता है फिर नए भाव और आवेश में रचनाकार के प्राणों से छन कर बाह्य विश्व में लौट जाता है। जो लौटता है वह प्रतिध्वनि हो सकता है, ध्वनि तो शिल्पी के मन की गहराइयों में ही खो जाती है।

सामूहिक अध्यवसाय में सजातीयता सर्वोपरि है। कोई कारीगरों का दल ही एक अपूर्व वस्तु के निर्माण में चमत्कार दिखला सकता है, आम आदमी की भीड़ नहीं। आम आदमी की मजबूरी पेट से ताल्लुक रखती है, वह मूर्ति-निर्माण में जैसा सक्रिय सहयोग दे सकता है, मूर्ति के विध्वंस में भी वैसा ही विक्रान्त। कलाकार की मजबूरी अपने को उँडेल देने की है, उँडेलने के क्रम में उदरपूर्ति वहाँ आनुषङ्गिक है।

मजदूरी कलम की ही क्यों न हो, मजदूरी है। उसे मन से कम सरोकार होता है। मन मार कर तन को खटाना होता है। वहाँ प्रिय-अप्रिय का प्रश्न नहीं उठता जब कि कला का वही मुख्य उद्देश्य है। कलाकार अपने सब से अधिक प्रिय को प्राणों के रस में डूबोकर प्रस्तुत करने का आकाङ्क्षी है। कला मजदूरी नहीं, कलाकार की मजबूरी है।

श्री भीमसेन जोशी द्रुतलय में अपने प्राण उँडेलते हैं :

श्या ऽ म ब	जा ऽ ई ऽ	आ ऽ ज मु	र लि या ऽ
ए ऽ ऽ ऽ	अ प ने ऽ	अ ध र न	गु न सों ऽ
नि रे ग रे	नि रे सा सा	सा ध नि रे	ग रे ग ग

प र्म ग रे

ग र्म प प

नि ध्र प रे

ग रे सा सा

'श्याम S म ब

जा S ई S'

कहकर जब स्वर बरसते हैं :

तो सुनने वाला इस सहजता और सादगी पर तड़प-तड़प उठता है। गीत और वाद्य, ठेके की दुगुन-चौगुन की मदद बाहर स्वर-सम्भार की प्रेषणीयता भर बढ़ाती है। स्वरों का बहाव तो भीतर से उफनता-उमड़ता आता है। साधना मजदूरी नहीं है।

उन सबका कृतज्ञ हूँ, जिनकी आँखों में अब मेरे सपने सज गये हैं। मैंने तो अपनी पथराई आँखों से उन्हें कब का उजाड़ फेंका था।

निराला निकेतन

मुजफ्फरपुर

१४ जून १९८८

जानकीवल्लभ शास्त्री

आज महाकवि निराला के प्रथम दर्शन और निकट साहचर्य के दिन, डा० बड़थवाल के बंगले से सीधे होस्टल लौट आना चाह रहा था। निराला ने वहाँ चाय-जलपान के दम्याँ अपने गीत ही नहीं सुनाए, उनके शिल्प की ऐसी स्पष्ट और पुष्ट व्याख्या भी प्रस्तुत की जिसने मेरी अब तक की अर्जित अभिज्ञता को अनजानते ही एक नई अञ्जित दृष्टि दे दी।

मैं डा० बड़थवाल को सन्त-साहित्य का समीक्षक ही जानता था। वह हिन्दी के पहले डॉक्टर हैं। निराला और उनके साहित्य को वह इस सीमा तक स्नेह देते हैं, मालूम न था। मेरे लिए अधिक आश्चर्यजनक यह था कि वह निराला की चटपटी टिप्पणियों को मूल गीतों के समान ही सुनते, समझते और आनन्द लेते थे।

निराला का देवदारु-सरीखा व्यक्तित्व भूर्ज-पत्र-जैसे रुक्ष-धूस्र वस्त्रों में भी मनोज्ञ मालूम देता था; किन्तु उनकी आकाश-सी आयत आँखों का आकुञ्चन-प्रसारण तो अत्यन्त अद्भुत था। काव्य-पाठ के समय मन्द्र सप्तक के कभी धैवत और कभी निषाद तक उनका स्वर उतरता, आँखें अर्द्धनिमीलित-सी हो जातीं, जिनसे छनकर आता हुआ आर्द्र प्रकाश मन की मलिनता हर लेता था और तार सप्तक में अन्तरोँ का चढ़ाव तो आँखों को योगियों-की सो उन्नीत दृष्टि देता था जिसका सामना करना अत्यन्त कठिन होता था। दोनों ही स्थितियों में उनके मोतियों-से दाँतों में जैसे मन्द स्मित की किरण उलझी होती थी।

मैं तो पहली बार यह सब देख-सुन रहा था, मेरी मनःस्थिति सर्वथा अकल्पनीय थी।

आज दिन मैं उनके द्वारा काव्य-पाठ के लिए सुनियोजित सारे स्वर दुहरा सकता हूँ, अवश्य गाते समय की उनकी वह योग-मुद्रा—मनन, दर्शन, धैर्य और कुशलता के अभाव में भी प्रेषणीय हो, यह असम्भव है।

उनके गीत-संगीत में किसी घराने के उस्तादों-जैसी अदायगी न थी, उनके समग्र जीवन की प्रत्यग्र-स्वरित अभिव्यक्ति भर थी, जैसे— जो वर्ण-चमत्कार के बाहर रह आया, वह स्वरों के सहारे भूः भुवः स्वः में परिव्याप्त हो गया।

काव्य तथा संगीत में सदा से होड़ लगी रही है। एक कहता है : काव्य बड़ा है; दूसरा कहता है : संगीत बड़ा है। बड़ा कोई नहीं है। बड़ी है स्वर-साधना; बड़ी है वर्णों द्वारा की जाने वाली सही अभिव्यक्ति। सूर-मीरा की वेदना हो तो क्या काव्य, क्या संगीत, सर्वत्र जय-जयकार है।

फिर असह्य दुःख और स्वयम्भू आलोचकों की छाती छेदकर पार कर जाने वाली बातें अटूट आत्म-विश्वास के साथ सह जाने वाले के स्वर में जो आर्द्रता होती, और आइडिया की अन्वेषी आँखों से जो सात्विक प्रभा प्रस्फुटित होती थी उसकी तुलना किस खानदानी 'शुक'-देव से होती ?

गीत तो गीत, मुक्तवृत्त पढ़ते समय भी जो स्वर-समारोह, अङ्ग-भङ्गिमाओं-समेत, वह प्रदर्शित कर रहे थे, छोटी-बड़ी सुइयों से शब्दों की जाली काढ़नेवाले और अर्थों का पहाड़ा पढ़ाने वाले, उसकी क्रूर-कुत्सित आलोचना करके चाहे जैसी आत्मतुष्टि का अनुभव कर लें, उनकी अनुकृति असम्भव है।

‘दे मैं कहूँ वरण !’

अथवा

‘प्रात तव द्वार पर !’

अथवा

अनगिनत आ गये

शरण में जन जननि !

गाते समय उनके प्रदीप्त मुखमण्डल पर परमहंसी भाव तैरता रहता था। आध्यात्मिक ज्ञान की अतिशयता में एक अवधूत, व्यवहार-विचार में एक निर्विकार संन्यासी, परमहंसों की-सी अनासक्त विचार-आचार-संहिता, रस-समुद्र की द्विधाभूत तरङ्गों—कवित्व और संगीत पर एक-सा लहराता हुआ मन। निराला निराला हैं।

मैंने आत्मविभोर हो प्रणिपात-पूर्वक लौटने की अनुमति मांगी तो पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी ने सहर्ष दे दी। अनमने निराला ने मना कर दिया। बोले : 'मेरे साथ चलेंगे।' छह पैसों में एक इक्का ठीक हुआ, हम जहाँ पहुँचे, अस्सी घाट पर, जगन्नाथ मन्दिर के आस-पास, वह आचार्य वाजपेयी का तात्कालिक आवास था।

वहाँ अंग्रेजी 'कल्याण-कल्पतरु' के सम्पादक पं० चिम्मनलाल गोस्वामी पहले से मौजूद थे। वाजपेयी जी ने चौके से निराला के भोजन की थाली लाकर बाहर की एक तिपाई पर धप-से रख दी। निराला असमंजस में थे, मैं उठकर गोस्वामी जी के पास बैठ गया और उनसे बातें करने लगा कि धार्मिक वातावरण में रहने या किसी धार्मिक पत्र में काम करने से धर्मभावना उद्दीप्त भी होती है या आजी विका के लिए औपचारिकता को धर्म के रूप में प्रचारित करने की विवशता ही ढोनी पड़ती है? आपका अपना अनुभव क्या है? आप उस परिवेश में कैसा अनुभव करते हैं?

निराला ने कहा : "मुझे भूख नहीं है, इसे आप ही खा लीजिए।"

मेरे हाथ भले ही रीते-रीते रहते हों, मन कब भरा-भरा न रहा? उठकर हाथ जोड़ लिए : भोजन करने के बाद का जलपान था वह, जब आप आए थे। फिर बड़थवाल जी के यहाँ चार रसगुल्ले मैंने ही तो गटके थे, ढेर सारा नमकीन, चाय; अब और गुंजाइश नहीं है। आप मेरी ओर से निश्चिन्त होकर भोजन करें। याद नहीं है, आपने अपने हिस्से के रसगुल्ले भी तो वहाँ मुझे ही दे दिए थे !

वाजपेयी जी अन्दर चौके में खाने चले गए थे। गोस्वामी जी का कोई व्रत था। निराला ने भोजन समाप्त कर हाथ धो लिए। भीतर से कोई कुछ पूछने न आया।

मैं इस पीड़ा का प्रदर्शन कहाँ करता? अलबत्ता यह दर्द निरपेक्षता में भी मेरे अन्दर गहराता रहा। किसी दिन जान सका तो बस इतना ही कि कान्यकुब्जों में बिस्वे की गिनती होती है और निराला बिस्वे में वाजपेयी जी की बराबरी नहीं करते। बड़थवाल के यहाँ यह भेद स्पष्ट न हो पाया था। यहाँ चौके में एक साथ बैठकर कच्ची रसोई जीमने की बात थी। [तब तक 'सरोज स्मृति' कविता नहीं लिखी गई

थी, नहीं तो इस विभेद की प्रगल्भ और तिवक्त व्याख्या पढ़ लेने के बाद जटाओं से ढके वटवृक्ष के समग्र मूल को मैं भलीभाँति समझ लेता ।]

कुछ इधर-उधर की बात पूछ लेने के बाद निराला ने आत्म-मन्थन की ओर सूक्ष्म-संयत संकेत किया कि मैंने अब तक उनका क्या, कितना कुछ पढ़ा है !

आर्थिक परिस्थिति के साथ अपने टकराव और मानसिक तनाव को दबाकर मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया : “प्रायः वह सब-का-सब, जो किसी न किसी रूप में प्रकाश में आ चुका है।”

“जैसे ?”

मनहर-चित्रावली के पद; ‘अनामिका’ (पहली), मतवाला में प्रकाशित कविताएँ, परिमल...

“आप मेरी कविताएँ समझ लेते हैं ?”

“शत-प्रतिशत नहीं, आंशिक रूप में। परन्तु जिसे समझ पाता हूँ उसे पी जाता हूँ। गद्य अधिक समझ में आता है। ‘समन्वय’ में प्रकाशित लेख, ‘ध्रुव-प्रह्लाद-भीष्म-प्रताप’ के अलावा ‘अप्सरा’ और ‘अलका’, ‘रवीन्द्र-कविता-कानन’, ‘प्रबन्ध पद्म’ और ‘लिली’ भी। ‘ध्रुव’ से तो मेरा जीवन किञ्चित् प्रभावित भी हुआ था।”

निराला को पढ़ते समय एक बात बार-बार मन में आती थी कि अतीन्द्रिय का स्पर्श पाए बिना कोई लेखक आध्यात्मिक अनुभूतियों को वैसी छूनेवाली अभिव्यक्ति नहीं दे सकता।

मैंने तो पाठ्य-ग्रन्थों के रूप में वेद-ब्राह्मण-उपनिषदों का अध्ययन किया है। गुरुजन पढ़ाते समय कहाँ कभी आँखें पोंछते थे ? प्रवचन के परिमल से उनकी वाणी कहाँ सुवासित होती थी ?

मैंने श्रीमद्भागवत और विष्णु-पुराण में ध्रुव-प्रह्लाद के चरित्र आपकी रचनाओं के मनन के पश्चात् पढ़े थे।

“आपने मेरे ‘भक्त ध्रुव’ से अपने जीवन में क्या प्रभाव ग्रहण किया ? अभी-अभी बोले थे।”

“ध्रुव की माँ ध्रुव को जी-जान से मानती थीं; किन्तु एक ऐसा भी समय आया जब ध्रुव को उन्हें भूलकर तपस्या के लिए निर्जन वन में

चला जाना पड़ा था।

मेरे तो कोई माँ थी ही नहीं। पिता जी 'तद्गतेन मनसा' पीटते समय माँ की करुण-मसृण कातर दृष्टि एकबार ही भूल जाते थे। जब मैंने घर छोड़ देने का निर्णय ले लिया, वह फफक कर रो पड़े और फिर कभी धुलाई न करने की प्रतिश्रुति से मेरे पाषाण-प्राणों को सम्मोहित करने लगे, उस घड़ी मुझे आपके ध्रुव ने ही अडिग रक्खा था।"

"अच्छा, तो यह बात है!"

"और नहीं तो क्या, ध्रुव के और किसी सौभाग्य से कोई मुझ-से अल्प-विषय-बुद्धिवाले को प्रेरणा प्राप्त हो सकती थी? भगवद्दर्शन की वैसी बावरी धुन तो इस युग में परमहंस देव श्रीरामकृष्ण की प्राण-वीणा में ही बजी थी। यों परमहंस देव को राज्यपद तो क्या, परमपद-प्राप्ति की भी कामना न थी!

एक अचम्भा और होता है; उपनिषदों के युग में याज्ञवल्क्य के दो पत्नियाँ थीं; पौराणिक युग में उत्तानपाद के भी दो ही। यह क्या उदात्त-अनुदात्त प्रकृतियों के विवेक के लिए कल्पना-प्रसूत कथाएँ हैं या कि उस युग के ऋषि और राजर्षि—सब एक ही घाट पानी पीते थे?

कालिदास के समान आपने भी मनु की महत्ता का बखान किया है किन्तु जहाँ कालिदास ने दिलीप, रघु, अज के आदर्श गार्हस्थ्य को लोकालोक में उज्जीवित किया है, वहाँ आपके मनु-पुत्र घोर कलियुगी दिखाई देते हैं।

प्रह्लाद में भी कश्यप अनेक पत्नियों के पति के रूप में प्रकाशित होते हैं। दूसरी ओर ये पुस्तकें बालकों के लिए लिखी गई हैं। वे अपने बहुपत्नीक पूर्वज और दुष्प्राप्यकीर्ति विमाता आदि के क्रूर-कुटिल स्वभाव से तभी परिचित हो जाते हैं जब उनके दूध के दाँत भी नहीं टूटे होते।"

निराला जैसे—'कुम्भज के किकर विकल बूड़े गो-खुरनि' के अन्त-विरोध पर हँसे :

"और रामायण-महाभारत पढ़नेवाले 'बालकों' पर क्या प्रभाव पड़ता है? जो हमारे अभिजात अतीत का अभिज्ञान है उसमें आप कैसे

फेर-बदल कर सकते हैं ? वेदों और पुराणों से लेकर कालिदास तक सौतों की कूर कहानियों से आपका सारा संस्कृत साहित्य अटा पड़ा है, कहाँ हैं आप ?”

“निराला जी, फुनगी में फले फलों के लिए बाँह उठाये बौने की तरह मैंने एक साहसपूर्ण आविष्कार किया है कि प्रह्लाद की कथा एक रम्य रूपक मात्र है। ‘कशिपु’ शय्या को कहते हैं। सोने को सेज पर सोने वाला ‘हिरण्यकशिपु’ मायाराज्य का एकच्छत्र सम्राट् है और प्रह्लाद (प्र—ह्लाद=निरतिशय आनन्द; आनन्दमय) आत्मा। फिर—

“नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि

नैनं दहति पावकः”

को प्रह्लाद की जीवन-घटनाओं में ‘टॉर्चर्स’ द्वारा दरसाया गया है।....”

निराला फिर अपनी पेटेंट हँसी में फूटे : “वर्तमान धर्म में यही सब तो मैंने दिखाया था जिस पर इतना हो हल्ला मचा था।....”

‘जी हाँ, मैंने बहुत मन लगाकर ‘माधुरी’ में क्रमशः प्रकाशित आपकी वह टीका पढ़ी थी। मूल और टीका पढ़कर मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था कि आपके प्रचण्ड पाण्डित्य का उद्घाटन करने के लिए ही अनजानते वह दुरभिसन्धि की गई थी :

‘प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः

कृतोपकारा इव विद्विषस्ते।’

उसके पूर्व ‘पल्लव और पन्त’ के समय आधुनिक समीक्षा-सरणि का आपके द्वारा ही हिन्दी में सीमान्तक प्रवर्तन हुआ था। टीका क्या, वह मूल के उच्छ्राय-सौन्दर्य को दिशाकाशप्रकाशिनी प्रभा प्रदान करने वाली पद्धति आपकी ही देन है। संजीवन भाष्य में तो पं० पद्मसिंह शर्मा ने भाषा की छवि-छटा पर ही अधिक ध्यान दिया है। तत्त्व-विश्लेषण कदाचित् उनका वैसा लक्ष्य न था।”

“क्या मतलब ?”

“वागर्थ की प्रतिपत्ति के लिए कालिदास को भी प्रार्थना करनी पड़ी थी। उस अद्वितीय महान् ने अपने को मन्द और कवियशः प्रार्थी

भी कहा है। किन्तु शर्मा जो ने न केवल नई कविता को स्वीकृति नहीं दी है—

[Youth is full of Pleasance
Age is full of care;
Youth like summer morn,
Age like winter weather;
Youth like summer brave,
Age like winter bare]

बिहारी के लिए संस्कृत के सर्वोत्तम कवियों को भी ताल ठोंक कर ललकारा है। इससे उनकी उर्दू-फ़ारसी और ब्रजभाषा के साथ-साथ संस्कृत-भाषा-साहित्य की अभिज्ञता और बहुज्ञता का अवश्य विराट प्रदर्शन हुआ है, किन्तु संस्कृत की प्रज्ञापारमिता उन्हें बिहारी के वाग्वैभव को 'विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसाम्' हर्गिज न स्वीकारने देती।”

मेरा अधिक्षेप निराला को असह्य हो गया। उन्होंने कहा : “वह संस्कृत साहित्य के आचार्य्य हैं।” मैंने कहा : “होंगे। बिहारी के प्रति अतिरिक्त भक्ति-भाव ने असन्तुलित कर दिया होगा।

सुर-तुलसी हिन्दी के व्यास-वाल्मीकि हैं—यह अत्युक्ति भी व्यास-वाल्मीकि की अक्षुण्ण गरिमा की ही ओर संकेत करती है, व्यास-वाल्मीकि दूसरे नहीं हुए। ‘द्वितीयगामी न हि शब्द एषः। हिन्दी की बात और है।

धर्मग्रन्थों में प्रायः एक-सी बातें हुआ करती हैं इस कारण बाइबिल और कुरान एक ही नहीं हैं। एक होने पर दोनों न होते।

रामायण-महाभारत धर्मग्रन्थ ही नहीं हैं। वे आदिकाव्य भी हैं। काव्य हैं तो उन पर उनके कवि की अपनी मुहर भी लगी है। वह कोई कम्ब, कृत्तिवास, तुलसीदास अपनी कृतियों पर उगाना न चाहेंगे। अब जो जानने की तरह संस्कृत नहीं जानता, उसे वाल्मीकि न रुचेंगे। कथ्य भर उसके पल्ले पड़ता है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य,—भाषा की सामर्थ्य—शुक्ति में बन्द कवि की आत्मा की मुक्ता उसकी आत्मा को

आलोकित नहीं करती । और, कहना न होगा, कथ्यमात्र काव्य नहीं है ।

तुलसीदास जी का व्यापक प्रभाव कवि होने के कारण कदापि नहीं है, जब कि वाल्मीकि वैदिक-पौराणिक ऋषि-महर्षियों में, अलौकिक काव्य-कला की बदौलत ही अपनी एक अकेली पहचान बनाते हैं । यह अन्तर असाधारण अन्तर है ।

यह बात और है कि तुलसीदास जी और कम्बन और कृत्तिवास हिन्दी और तमिल और बंगला के आज भी सर्वश्रेष्ठ कवि हैं । सर्वश्रेष्ठ ही नहीं, सबसे अधिक लोकप्रिय कवि भी हैं ।”

किसी कथावाचक से भी अधिक निराला तुलसीदास के प्रशंसक हैं; किन्तु उनकी काव्य-कला की दुर्बलताओं के सबल समीक्षक भी वैसे ही हैं, जिस कारण मैं प्रगल्भता प्रकट करने का दुःसाहसी हो रहा था । यों मैं सितार के तार छेड़कर ध्वनि-प्रतिध्वनि ही सुनना चाहता था, किन्तु वह अपने मूड में ही फूटते हैं, छेड़ने से नहीं, तब से देख रहा था ।

होस्टल में ‘रसगङ्गाधर’ के पृष्ठ पलटते समय उन्होंने एक विष-बुझा बाण छोड़ा था मुझ पर, मैंने जब विद्ध मर्म को अनदेखा कर डट कर उसके उज्ज्वल पक्ष का बखान किया जो पीढ़ियों को प्रेरित करता रहा था, तब उन्होंने झटपट विषय बदल दिया ।

वेदान्त के तात्कालिक पीठाधोश्वर के बारे में मुझसे अत्यन्त अव-हेलना पूर्वक जानकारी हासिल की । मैंने उनका नाम महामहोपाध्याय पण्डित बालकृष्ण मिश्र बताया तो बोले : अभी चलकर पूछूँ कि बुद्ध और आचार्य्य शङ्कर के विचारों में कहाँ-कहाँ समता है ? तो महा-महोपाध्याय जी को दिन में तारे नज़र आने लगेंगे ।

मैंने सीढ़ियों की ओर इशारा कर उत्तेजित किया : ऊपर हैं । चल कर परख लें, अभी ही सब स्याह-सुफ़ेद हो जाएगा ।

परन्तु उन्होंने बड़बुल के नाम की दुहाई दे कर टाल दिया कि पहुँचने में देर हो जाएगी और वह उन्हें पूर्व सूचना दे चुके हैं ।

रास्ते में अलबत्ता मुझे बताते रहे कि क्यों आचार्य्य शङ्कर प्रच्छन्न बौद्ध कहलाए ! मैं उनकी दर्प-स्फीत आँखें देखता भर रह गया ।

‘वर्तमान धर्म’ के आलोचकों को वह महामूर्ख सिद्ध कर चुके थे। चर्चा में अनावश्यक रूप से कई बार बोले : अभी मेरी उमर उसे समझने की नहीं है, बाद इसके जब वेदान्त का आचार्य्य हो चुकूँगा वह मुझे उसका तात्त्विक अर्थ समझा देंगे।

मुझे आनन्द आ रहा था कि साहित्य और वेदान्त के शास्त्रीय पक्ष पर ही निराला बातें कर रहे थे। किसी व्यक्ति-विशेष की चर्चा तक वर्जित थी उस आलाप-संलाप में, कड़वी आलोचना की तो बात ही क्या !

मैंने अभी-अभी अट्ठारहवाँ साल पूरा किया था। डाँट खाने की उम्र थी मेरी। आदतन छेड़ता भी था, किन्तु जैसी चाहिए वैसी डाँट वह पिलाते न थे। वाजपेयी जी मेरी मुखरता पर हँस भर देते थे : निराला जी, इनकी अवस्था पर न जाइए, थॉरो स्टडी की है इन्होंने संस्कृत साहित्य की ! पण्डितराजवाले प्रसङ्ग में आपने लक्ष्य किया होगा : इन्होंने रसवाद से हट कर पण्डितराज की सौन्दर्य्यवादी स्थापना पर कैसा प्रकाश डाला था !

निराला के दर्शन मात्र से मेरा मन विद्युत्-प्रवाह में तैरने लगा था। उनकी एक-एक साँस वायब्रेट करती होती थी।

अब तक मेरे सामने निराला-जैसी कौन-सी हस्ती आई थी ? मुझ-जैसे अपदार्थ को ढूँढ़ते हुए निराला का आना—कैसी अनहोनी-सी घटना है !

अभी कुछ ही दिन पहले कवीन्द्र रवीन्द्र के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। रतजग्गे की आदत ने यह अवसर जुटा दिया था। मालवीयजी महाराज के बंगले से सटकर अभी-अभी हिन्दू युनिवर्सिटी का गेस्टहाउस बनकर खड़ा हुआ था। उसके प्रथम अतिथि के रूप में टैगोर पधारें थे। अभी ठीक-ठीक सवेरा होने में तीन घंटे की देर थी। हमारे होस्टल से अतिथि-शाला केवल दो मिनट के फ़ासले पर है। कुछ अतिरिक्त प्रकाश और छोटी-सी चहल-पहल का हल्का-सा आभास हुआ और अपना एकमात्र कुर्ता गर्दन में डालता-डालता ठीक ठौर पर पहुँच गया।

टैगोर अभी कार से उतर ही रहे थे—बहुमूल्य, हल्की ललाई लिए

हुए गाउन में। रंग-बिरंगी खुशबुओं की लपट-सी उठ रही थी। दो स्वस्थ सुन्दरियाँ अपने-अपने कन्धे पर उनकी एक-एक बाँह रक्खे हुई थीं। चाँदी के तारों-से करीने से कढ़े केशों और दाढ़ी-मूछों से उनका सूर्योदयी मुख-मण्डल अनिन्द्य सुन्दरियों की रंगारंग बदली के बीच से उभरता-सा प्रतीत हुआ।

मालवीयजी महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री त्रिलोचन पन्त मुझे प्रवेश के दिन से ही पहचानते थे, सो मैं साथ-साथ ऊपर तक चला गया, जहाँ मदन-दहन के पूर्व का आकालिक वसन्त बगर रहा था। बंगाली टोले के सभी कलाकार और कला-प्रेमी नर-नारी भरे हुए थे। जिस कमरे में टैगोर बैठाए गए, वह विविध वाद्ययन्त्रों से अटा पड़ा था। सब टैगोर के चरण चूम रहे थे, मैं निर्वाक् खड़ा था। टैगोर बार-बार मेरी ओर देख रहे थे : शायद यह कि इतने लम्बे कुञ्चित कुन्तलों-वाला और कोंछेदार धोती और लम्बे कुर्ते में अकड़ा खड़ा यह कौन उजबक हो सकता है !

वह जब-जब मेरी ओर मुखातिब हुए, मुझे पवनसुत हनुमान की तरह दोनों हाथ जोड़े हुए ही देखा होगा।

गीताञ्जलि, गीतिमाल्य और नैवेद्य के ऋषि-कवि का यह रक्त-पल्लवावृत कुन्देन्दुतुषारहार-धवल रूप मेरे मेघ-मेदुर मन को कहीं से भी प्रकाशित नहीं कर पा रहा था।

नील सरस्वती का स्तोत्र पढ़ता भर रहता था, कभी वह मेरे अंतर्मन में अङ्कित न हुआ था।

कितना कठिन है, संस्कार में समासीन सर्वशुक्ला सरस्वती को नील रूप में, मनीषा से नहीं, हृदय मन से स्वीकृति !

टैगोर-संबंधी स्वप्न भी कुछ ऐसे ही भङ्ग हुआ था !

रूप और ऐश्वर्य्य अविभाज्य थे। वहाँ ऐसा कुछ भी न था जो प्रयत्नपूर्वक न रचा गया हो; ऐसा भी कुछ न था जो बहुमूल्य न हो :

न तत्र किञ्चिन्न कृतं प्रयत्नतो

न तत्र किञ्चिन्न महार्घरत्नवत्।

यह सरस्वती और श्री का संगम, स्वर और वर्ण का संतुलन कभी भूलने योग्य न था !

दूसरी ओर इसी बंगले के पास-पास यह आश्रम-जैसा छात्रावास; खुरदुरी खादी की धोतियों वाला प्रशान्त वातावरण, जिसमें कहीं वैदिक मन्त्र स्वरों में साधे जा रहे हों, कहीं कपिल-कणाद के आधे भूले शिष्यों को नए परिवेश का सन्देशवाही बनाया जा रहा हो, कहीं पाणिनि-पतञ्जलि के संस्कारों से व्यवहार के शब्दों को माँजा जा रहा हो। सब निर्विशेष सामान्य। स्वागत के योग्य कहीं कोई उपकरण नहीं। वहाँ महाकवि निराला की आकस्मिक उपस्थिति रुक्ष-मलिन वेश में। एक ऐसे अकिञ्चन के पास, जिसने औपचारिकता न जानी हो; स्वागत के उपयुक्त जिसके समीप कोई उपकरण नहीं। अभिव्यक्ति के अभाव में जिसका आनन्द भी स्तब्ध हो; उपायन-योग्य जिसके एकमात्र दुःखायन जीवन हो ! यह विसंगत विषमता भी कभी विस्मृति के गर्भ में विलीन न होगी।

विशृङ्खल भावनाओं की लौह-शृङ्खला बजा कर प्राण जैसे कोई कोमल गान गाना चाह रहे थे, तभी वाजपेयी जी को बुलाने लक्ष्मी-नारायण मिश्र आ गए। नागरी-प्रचारिणी-सभा में कोई मीटिंग थी।

बीज जैसे विकास के शत-शत व्यवधान पार कर फूल बन गया हो, मैं भी उन्हीं के साथ निकल चलने को हुआ तो निराला ने कहा : “कुछ देर रुको, मैं भी चौराहे तक चलूँगा।”

वाजपेयी जी, गोस्वामी जी और मिश्रजी चले गए तो निराला ने कहा : “कल कब तक फुर्सत मिल जायगी ?”

“कॉलेज ऑफ़ ओरिएण्टल लर्निंग की बिल्डिंग अभी निर्माणाधीन है। आर्ट्स कॉलेज में ही मॉर्निंग-शिफ्ट में पढ़ाई होती है। बारह बजते-बजते हाज़िर हो जाऊँगा।”

“हाँ, यही मैं कह रहा था। कल तुम्हें लेकर प्रसाद जी के यहाँ चलूँगा।...कुछ सुनाओ, इधर क्या कुछ लिख रहे हो ?

उत्तर प्रदेश की सहजता में निराला मुझे ‘तुम’ सम्बोधित करते हुए, जाने क्यों, जल्दी ही आप पर उतर आते हैं ! कभी-कभार कमलों-भरे सजल सरोवर को देखकर या फिर फलों-लदे किसी छायादार वृक्ष

की छाया में बैठ कर जैसा अनुभव हुआ था, अभी हो रहा है। 'आज-कल क्या लिख रहा हूँ'—पूछे जाने पर मैं वनपलाश के समान निर्गन्ध खिल उठा और जैसे मकरन्द का रसकोष भर कर फट गया हो, छलक उठा ! मृदङ्ग पर थाप पड़ने से बोल जैसे एक लय में कढ़ा हो; दुष्कर और निष्प्रतिद्वन्द्व कर्म करने का गौरव जैसे बैलून की तरह फूट गया हो, मैंने कहा : "इन दिनों अंग्रेजी, बंगला और हिन्दी की मनपसन्द कविताओं की संस्कृत में प्रतिध्वनि प्रस्तुत कर रहा हूँ। आपकी 'जुही की कली' अपने स्वभावसिद्ध सौरभ के साथ 'यूथिकाकलिका' में विपरिवर्तित हो गई है। सौष्ठव का आनुपूर्वी निर्वाह संस्कृत की संस्कृति की रक्षा के साथ सम्भव न था।"

"यह संस्कृत की संस्कृति क्या बला है?"

"बला नहीं, कला है निराला जी, स्थायित्व की कला। दो हजार वर्ष बीत गए, कालिदास की कविता अब भी अनाघ्रात पुष्प है। भरत मुनि से पण्डितराज तक (दो हजार वर्षों तक) वाद-विवाद द्वारा यह कला शाण पर चमकाई जाती रही है। भवभूति ने अचानक कविता को आत्मा की कला नहीं कहा है। संस्कृत की संस्कृति ने ही काव्य की आत्मा का अनुसन्धान किया है!"

निराला ने व्यङ्ग्य-विद्ध मुस्कान के साथ फिर कहा :

"अच्छा, तो यह बात है!"

"संस्कृत की संस्कृति ने 'बालादपि-सुभाषितम्' से—

भविता न विचारचारु चेत्
तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम्
खगवागियमित्यतोऽपि किं
न मुदं धास्यति कीरगोरिव!—

तक मुझ-जैसे अल्प-वय अल्पज्ञों के लिए अवकाश रहने दिया है। चार सौ वर्षों की तुलसीदास जी की प्रसिद्धि पर न जाइए, दो हजार वर्षों से कालिदास के समान वह बंगाल, आसाम, पूरे उत्तर भारत और दक्षिण भारत में अनिवार्यरूप में कभी न पढ़े-पढ़ाए गए। हिन्दी साहित्य की ही बात नहीं है, कालिदास से पृथक् भारतीय साहित्य का

क्या अर्थ है ?”

निराला ने कहा :

“कालिदास से बचिए । उसके चक्कर में पड़ने पर टी० बी० होने का खतरा रहता है !”

“हो सकता है,” मैं हँसा : “रघुवंश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण तो निश्चय ही टी० बी० के शिकार हो गए थे; किन्तु रवीन्द्रनाथ या स्वयं तुलसीदास जो तो...”

इस बार निराला भी खूब खुल कर हँसे । बोले : “अच्छा, सुनाइए, सुनें, संस्कृत रेंडरिंग में कैसी खिली है “जुही की कली !”

दिशाहीन नौका की भाँति मेरी बुद्धि इधर-उधर भटक रही थी । दृढ़तापूर्वक उसे मैंने लक्ष्य की ओर मोड़ दिया । मन कहता था, शास्त्रार्थ का अभ्यास स्पृहणीय नहीं है । पराजय और पराभव की चिन्ता शास्त्रार्थी को जयैषी, किन्तु निर्विवेक बनाती है । निराला की तेजस्विता का साक्षात्कार स्वयं में जीवन की कृतार्थता क्यों नहीं है ? मैंने संकोच और साहस के दोल पर जैसे झोंके खाते हुए चित्त से पढ़कर सुनाया :

अधि-विजन-वन-वल्लरि

मान-मधुरिममयी

स्नेह-स्वप्न-वासना-विमोलित-विलोचना

सोम-कर-कोमल-तर-तरुणी शयानाऽऽसीत्

काऽपि यूथिकाकलिका

मसृणपर्णपर्यङ्गे ।

वासन्ती निशाऽऽसीत्तदा

विप्रयोगयोगिनीं विहाय वल्लभां स्वीयां

वातोऽभिजातो दूरसंस्थो व्यचरत् क्वचित्

मलय-निलयाद् बहिः ।

सहसाऽ सौ सस्मार

प्रथम-सङ्गमोदन्तम्

वेपथुमत्कान्तायाः कामं कमनीयवपुः

चन्द्रातप-धौत-धवलदीप्तिमग्निशीथिनीम् ।

किम्पुनः ! स आशुगोऽ
विलङ्घ्यवर्त्मगिरिगह्वर-
गहनवनोपवनकुञ्ज-पुञ्ज मतिगणितं
सत्वरमुपस्थितो
विलङ्घ्यैकोत्पतनेन प्रथमां विहारस्थलीं
सदयःस्फुटकलिकायाः
केलिकलाऽऽमोदामोद-मादनीम् ।’

निराला अधलेटे-से थे, उठ कर बैठ गए। जब अपेक्षाकृत कठिन स्थलों पर भी प्रशस्ति में सिर हिलाया, मुझे विश्वास हो गया, वह सनातन पथ पर सन्निविष्ट संस्कृत भाषा की भी अभिज्ञता रखते हैं। नहीं तो अनायास अनुशासित कर सकते थे : समय संस्कृत को हिन्दी में लाने का है, हिन्दी के उत्तुङ्ग शृङ्ग को काट-छाँट कर संस्कृत के निस्तल गर्त में गिराने का नहीं।

इसके विपरीत निराला ने उच्छ्वसित स्वर से प्रशंसा का सेतु बाँधते हुए कहा :

“मैं किसी एक ही रुचि का कायल नहीं हूँ। कभी मैंने भी कुमार-सम्भव, मेघदूत, नैषध, विद्या-सुन्दर आदि पढ़े थे। पिछले बारह वर्ष युद्ध करते बीत गए। मुझे हिन्दीवालों का संस्कार दुरुस्त करना पड़ा। नहीं तो वे अपने ही कुएँ के मेढ़क बने रह जाते। सिर्फ लिखना ही काफी नहीं होता। समझ पैदा करना जरूरी है।”

मैंने कहा : “एक सप्ताह माथा मारना पड़ा था। आपने युगान्तर उपस्थित करने के क्रम में आलङ्कारिक परम्पराओं की स्वर्णरजत शृङ्खलाएँ तोड़ डालीं, मैंने उन्हें तिल-तिल कर जोड़ा और नए भावों को सहज भाव से आत्मसात् करने में सदा से समर्थ संस्कृत में एक नया मोड़ लाने का प्रयास किया है। टैगोर के ‘रात्रे ओ प्रभाते’ को ‘विभावय्या विभाते च’ में रूपान्तरित कर मैंने संस्कृत पत्रिका में प्रकाशित भी कराया था। आपकी ‘जुही की कली’ की कोमल पदशय्या या सुललित वर्ण-विन्यास संस्कृत के सांचे में जहाँ तक ढल सकता था, मैंने प्रयास किया है।

‘दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता !’

का

‘भिन्दन्नेति शकलयन् हृदयं
पथि भिक्षुस्संतप्ततरः ।’

रूपान्तरण मुझे बहुत न जँचा । ‘काकली’ में आर्थिक कारणों से अनूदित रचनाओं का समावेश सम्भव न हुआ । मैंने उसकी भूमिका में आपके क्रान्तिकारी अवदानों की ओर संकेत भर कर दिया था ।”

निराला ने ‘जुही की कली’ का शेषांश सुनाने कहा । ‘विद्यावतां भागवते परीक्षा’ की चुनौती लिए हुए है इसका उत्तर भाग । अनुवाद की दृष्टि से पूर्वांश से कहीं अधिक जटिल ।

निद्रा-मुदित-मनाः

सकृदप्यकल्पितं

कथमथ जानीयात्प्रणयिन आगमनम् ?

शिष्टेनापि मन्दमुपस्पृशता तदाननं

तथा धृष्टमाचरितम्

दोलालीलामापद्वल्लरी नता यथा !

वल्ली-पल्यङ्के भद्रनिद्रयोपसंश्लिष्टा

तदपि न जजागार

लज्जामज्जितमतिः

कम्पनम्रताऽभिहता,

तरुणिममधु वा पायं पायमभवन्मत्ता

को नु व्याहरेत् स्फुटम् ?

निष्करुणं तरुणेन मलयसमीरणेन

कन्दर्प-दर्प-दलन-क्षमेण क्षणं सपदि मदितावयवा

सहसोपसंसृतां सचकितलोचनमालोच्य मधुमद्दशां

स्फुरदधरजयिदयितं प्रेक्ष्य च पुरःस्थितं

विकसिता सविस्मयं सस्मितानतानना

गन्धवती सुप्रिया

सुजाता यूथिका-कलिका ।

—कतिपय अनुबन्धों की एकाधिक आवृत्ति सुनने के बाद प्रफुल्ल,

पुण्डरीक-से सगन्ध नयनों से मकरन्द-बिन्दु-सदृश अमित वात्सल्य छलकाते हुए कहा :

“नमो नमः । कल फिर आने की प्रतिश्रुति के साथ जाइए ।”

अद्भुत शक्ति, प्रभाव और पुरुषार्थ के विराट् पुरुष को शीश नवाकर, कितने ही संकल्प-विकल्पों से छिछले मन को भरता-भरता छात्रावास लौट आया ।

रात प्रभात हो गई । मन रण-रणक से भरा था । पलभर को भी पलकें न लगीं ।

जलती हुई बनैती (अलाव) घुमाने पर वह सूर्य के समान गोलाकार प्रतीत होती है । अवश्य वह सूर्य न होकर बनैती ही होती है, आँखें किन्तु चकराती हैं । सूर्य से चुंधियाती हैं, मशाल से चकराती हैं । सहज नहीं रहतीं ।

बादल दौड़ते हैं, हवा के धक्के से; लगता है, चाँद भागा जा रहा है ।

ऐसा ही कुछ हुआ । कागज पर उतरा हिमालय; लहरें लहराई समुद्र की । सब कागज पर । यही तो कला है । स्वप्न भी कला है नींद के कागज पर चित्रावली सजाने की ।

सम्भवतः सन् २६ में निराला की पहली पुस्तक पढ़ी थी—‘महाराणा प्रताप’ । फिर ‘२८-२९ में ‘भक्त ध्रुव,’ ‘सत्याग्रही-प्रह्लाद,’ ‘भीष्म’ और ‘हिन्दी-बंगला-शिक्षा’ । यद्यपि इन पुस्तकों का मूल्य बहुत कम था—‘प्रताप’ का एक रुपया; ‘ध्रुव,’ ‘प्रह्लाद’ और ‘भीष्म’ का दस-दस आने; ‘हिन्दी-बंगला-शिक्षा’ का बारह आने मात्र । दी पॉपुलर ट्रेडिंग कम्पनी, ११५; हरीसन रोड, कलकत्ता से ये सारी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं । आर्ट पेपर का तिरंगा कवर, अन्दर भी कई-कई चित्र । परन्तु तब तीन-चार रुपये आते कहाँ से ? मैं इन्हें ललचाई आँखों देख सकता था; दोनों हाथों से खाने की-सी आतुरता से एक साँस में पढ़ गया था । विद्यासागर की ‘वर्ण-परिचय’ आदि पुस्तकें पढ़ चुकने पर निराला की ‘हिन्दी-बंगला-शिक्षा’ सुगम लगी थी ।

चन्दौत, अम्बा (औरङ्गाबाद) के मेरे जीजा जी—पण्डित बदरी-

नाथ मित्र—संस्कृत में श्लोकों की रचना करते थे, हिन्दी के परम प्रेमी थे। 'प्रिय-प्रवास' उन्हें लगभग याद था। 'वीर पञ्चरत्न' और निराला जी की पुस्तकें मैंने वहीं, उन्हीं के अध्ययन-कक्ष में पढ़ी थीं। जिस वर्ष (सन् ३२) मैं यहाँ काशी-वास करने आया, वह स्वर्गवासी हो चुके थे।

क्या कभी यह सोचा जा सकता था कि उस ग्रामीण अकिञ्चन बचपन में जिनकी पुस्तकें मैं ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ा करता था, केवल सात-आठ वर्षों के बाद वही मुझे ढूँढ़ते हुए, यहाँ, इस होस्टल में आ जाएँगे और फिर घंटों मुझसे बातें करेंगे ?

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा
'एति जीवन्त मानन्दो नरं वर्षशतादपि !'

इसी उधेड़बुन में माथे पर तयौरी चढ़ी ही रह गई। मुस्कराहट पर चिकनाई चढ़ाकर नींद की भरपूर खुशामद की, मगर उसने धुँधिआई हुई दृष्टि भी मुझ पर न डाली और आँखों में ही रात प्रभात हो गई।

कक्षा में अप्पय्य दीक्षित से पण्डितराज की भिड़न्त थी। ध्वनि के उदाहरण के रूप में अमरुक के 'निःशेषच्युतचन्दन' श्लोक को सभी बड़े आलङ्कारिकों ने समान समादर दिया है। अन्तर है तो इतना ही कि कुछ ने इसे अभिधामूलक ध्वनि का उदाहरण माना है और कुछ ने लक्षणामूलक ध्वनि का। मम्मट, अप्पय्य दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ इसे अभिधामूलक ध्वनि मानते हैं, किन्तु साहित्यदर्पण के निर्माता विश्वनाथ महापात्र की दृष्टि में इसमें लक्षणामूलक ध्वनि है।

यद्यपि अप्पय्य दीक्षित और पण्डितराज—दोनों अभिधामूलक ध्वनि के पक्ष में हैं; किन्तु अप्पय्य दीक्षित का प्रतिपादन-प्रकार पण्डितराज को पसन्द नहीं है जिसके फलस्वरूप उन्होंने अप्पय्य दीक्षित की सहृदयता को ललकारा है; उनकी लिटरेरी सेंसिविलिटी को चैलेंज किया है। बड़ा निर्णय लेने के पूर्व स्थिति सँभालने की व्यवस्था पण्डितराज ने नहीं की है।

एक ही तो कुर्ता है खादी का। कक्षाओं से लौटकर उसे धोया जा सकता था, सुखाना सम्भव न था। वही पहन कर चल पड़ा। लङ्का पर छह पैसों की पाव भर पूरियाँ खाईं, दो पैसे का पान। पैदल चलकर

दुअन्नी बचा ली। जब पहुँचा, निराला जी तैयार बैठे थे। देखते ही नमोनमः कहा, पैर छूने न दिया। कल जो 'जुही की कली' का रूपान्तर सुनाया था उसे आज वाजपेयी जी, गोस्वामी जी और लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि को सुनाने कहा। सब के एकत्र होने पर मैंने आवृत्ति सुनाई। प्रशस्ति की पुष्पवृष्टि-सी हुई।

अब निराला जी उठ खड़े हुए और हम प्रसाद जी के घर चल पड़े। रास्ते में अचानक पूछ बैठे : "संगीत का भी अभ्यास किया है?"

मैंने कहा : "अभ्यास नहीं, गीत लिखने की सुविधा के लिए थोड़े-से सुगम रागों और अक्लिष्ट दो-तीन तालों की जानकारी हासिल की है। इस ओर रुझान में भी आपकी ही एक कविता का योग है। 'परिमल' में—'बज रही है तू इमन की रागिनी'—पंक्ति पढ़ी तो 'इमन की रागिनी' का अर्थ समझ में न आया। पूछने पर मालूम हुआ कि वह एक सान्ध्य-रागिनी है जिसका प्रभाव करुण और मधुर है।"

निराला ने क्रम टूटने न दिया,

"फिर?"

"फिर मैंने उसके आरोह-अवरोह, स्थायी-अन्तरा के स्वर नोट कर घोंट लिए, तीन ताल में :

सां सां नि ध प प ग मं प प रे ग नि रे सा सा
नि रे ग मं प ध नि सां रें सां नि ध प मं प प

खाली से (नवीं मात्रा से) शुरू होता है। तेरहवीं पर तीसरी ताली है, एक और पाँच पर पहली-दूसरी तालियाँ। बोल हैं :—

मं ऽ द मं, ऽ द मु र, ली ऽ धु नि, बा ऽ ज त,

नि र ख त कुँवर कन्हा ऽ ई ऽ मा ऽ ई ऽ

निराला हँसे : "वर्णमाला है यह तो ! अलङ्कारों से स्वरों को सजाना होता है। वैसे ताल का ज्ञान पक्का हो जाने पर गीत-रचना में सहूलियत होगी।"

"संस्कृत में"—मैंने कहा—वर्णों की गणना ही पर्याप्त होती है, वैसे मात्रिक छन्दों की कमी नहीं है। शङ्कराचार्य का—

दिनमपि रजनी सायम्प्रातः

शिशिरवसन्तौ पुनरायातः

—सोलह मात्राओं की ठेठ चौपाई है। फिर गीतगोविन्द तो स्वर-रत्नाकर है ही !”

“हाँ, वो तो है ! इधर डी० एल० राय और टैगोर ने पश्चिमी संगीत के मिश्रण से नया चमत्कार पैदा किया है। परिमल के दूसरे खण्ड में मैंने उसी का आंशिक प्रयोग किया है”—निराला ने कहा।

“परिमल की भूमिका में इसका स्पष्ट संकेत है। पहले शास्त्रीय स्वर, फिर श्लिष्ट और विकसित स्वर, और फिर उन्मुक्त स्वर,—पढ़ते समय आपका यह विभाजन पर्याप्त साभिप्राय प्रतीत हुआ था मुझे।”—मैंने कहा।

—हम मानमन्दिर मुहल्ले में प्रवेश कर चुके थे। मैंने डरते-डरते पूछा : “इधर कहाँ जा रहे हैं ? प्रसाद जी तो सराय गोवर्द्धन मुहल्ले में रहते हैं !”

निराला ने मुड़ कर कहा :

“हाँ, पहले विनोद के यहाँ चलते हैं।” निराला जी ने पेड़े खरीदे, कुछ बेसन की बर्फियाँ। फिर हम गुमसुम पहुँचे विनोदशङ्कर व्यास जी के घर। पहले आवाज दी। बच्चे दौड़ पड़े। निराला ने कई नन्हों-नन्हों हथेलियाँ पेड़े-बर्फियों से भर दीं। विनोद जी हँसकर नमस्कार करते हुए प्रकट हुए :—“निराला जी, यहाँ कितने लोग आते हैं। यह तो और कोई नहीं करता। आप अकेले हैं जो बच्चों का इतना खयाल करते हैं।” निराला जी ने ‘द्वाभ्यां तृतीयः’ शास्त्री का शास्त्रीय परिचय दिया। परिणाम यह हुआ कि मुझे निरा संस्कृत का विद्यार्थी समझ कर विनोद जी अंग्रेजी में बोलने लगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल क्लास के लिए अंग्रेजी में ही नोट्स तैयार करते हैं। बड़थवाल जी ने अंग्रेजी में ही अपनी डाक्टरेट की थीसिस प्रस्तुत की थी। श्यामसुन्दर दास जी अंग्रेजी-साहित्य में निष्णात ग्रेजुएट हैं, इसीलिए हिन्दी के विभागाध्यक्ष हैं। मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता, इसके पहले ही विनोद जी ने साहित्यिक अंग्रेजी में निराला जी से एक चौंकाने वाला प्रश्न पूछा कि पत्नी के अभाव में अब वह कैसे, पूर्ण स्वस्थ रहकर...जीवन-यापन करते हैं !

छूटते ही निराला ने कहा : “जैसे एक भारतीय विधवा...”

विनोद जी धीर-गम्भीर स्वर में बात काट कर बोल उठे :

“वह तो प्रच्छन्न व्यभिचार करती है !”

निराला ने उसी दृढ़ता से कहा :

“तो मैं भी करता हूँगा !”

विनोद जी बोले : “प्रसाद जी भी आजकल...बाई के यहाँ कम ही जाते हैं। कभी-कभी मैं उन्हें बलपूर्वक, केवल गाने सुनने के लिए, ले जाता हूँ।”

मेरा सिर चकराने लगा। विनोद जी को प्रो० साहनी हिन्दी का मोपासाँ कहा करते हैं। मोपासाँ ने तो फ्रान्स की नैतिकता और खोखली सभ्यता पर प्रकारान्तर से व्यङ्ग्य-वाणों की बौछार करने के निगूढ़ अभिप्राय से ही वैसा लिखा है, इनकी कहानियों में क्या है ?

माना, यह निराला के समकालीन हैं। कुछ वर्ष पहले जब निराला रुग्ण थे, यह प्रसाद जी की प्रेरणा से उनके लिए कुछ औषध आदि भिजवाए हुए थे। किन्तु जहाँ प्रसाद जी के दाक्षिण्य ने निराला के सङ्कोच का विचार कर स्वयं औषधियों की व्यवस्था करने पर भी विनोदशङ्कर जी को माध्यम बनाया था, वहाँ विनोद जी कुशल-क्षेम में केवल कोका पण्डित का फ्रायडीय विश्लेषणात्मक प्रश्न ही पूछ सके, एक अट्ठारह-उन्नीस वर्ष के अज्ञात-कुल-शील नव-युवक के समक्ष !

कल निराला से प्रथम प्रश्नोत्तरी अंग्रेजी में ही हुई थी। वह मेरी विवश व्याकुलता को लक्ष्य कर रहे थे। उस उन्मत्त निस्सार वार्ता के मेरे मन पर पड़ने वाले घृणित प्रभाव की भी उन्हें सुधि थी। वह चाय की प्याली खाली होते ही मेरी बलवती स्पृहा को प्राथमिकता देकर उठ खड़े हुए : “अभी चलते हैं। प्रसाद जी को सूचित कर दिया था : प्रतीक्षा कर रहे होंगे !”

रास्ते में, मैंने पूर्णचन्द्र वसु की ‘साहित्य चिन्ता’ की चर्चा की। पूछा कि उस ग्रन्थ में उन्होंने आर्य-साहित्य की धार्मिक प्रकृति का विशद विवरण प्रस्तुत किया है। रामायण, महाभारत ही नहीं, कुमार-सम्भव और शकुन्तला के भी धार्मिक पक्ष पर ही बल देकर यह दर-

साया है कि कैसा भी कुटिल, कुत्सित व्यक्ति हो, आर्यसाहित्य के पारायण से उसका मलिन मन निर्मल हो जायगा। धर्म की ओर उसका झुकाव होगा तो धर्मानुराग उसके चित्त को संयत, उत्कृष्ट और शान्त बनाएगा ही।

मैंने स्वयं 'प्रियप्रवास' में ऐसे प्रभाव का प्रत्यक्ष किया है।

'ऐसा व्यापी विरह जग में किन्तु कोई न होवे' पढ़ने पर कालिदास सहसा मेरे स्मृति-पथ पर उतर आए थे :

'माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः !'

'साकेत' में भी सजल सात्विकता है, ऊर्मिलावाली आनुषङ्गिकता के बावजूद। आपके 'तुलसीदास' में तो उन दोनों से कहीं अधिक है वह,

देखा, शारदा नीलवसना
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरदात्री;
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटों तर अमृताक्षर-निर्झर,
यह विश्व हंस, हैं चरण सुघर जिस पर श्री !

—जैसी दिव्य और उदात्त एक भी छवि दोनों प्रबन्ध-काव्यों में नहीं है।

किन्तु यही बात आपकी 'जुही की कली' या प्रसाद जी के 'आँसू' के लिए नहीं कही जा सकती। पन्त जी के काव्य को तो सौन्दर्य की किरण-कलिकाओं से सजे एक ईरानी गुलदस्ते से अधिक कुछ मानने को जी ही नहीं चाहता। सुन्दर, केवल सुन्दर...

बीच में ही निराला बोल उठे :

"यह दृष्टिकोण मध्ययुगीन है। आपको अभी नए युग की हवा नहीं लगी। आपने यूरोप के रोमैंटिक कवियों को भी नहीं पढ़ा। मन लगाकर पढ़ने पर हम लोगों की कविता समझने में मदद मिलेगी... पन्त का स्वर इधर लगातार बदल रहा है"...

मैंने कहा : हो सकता है। निराला जी, मैंने शेली के 'स्काइलार्क'

का यों बजगाना अनुवाद भी किया है :

‘हेल टु दी ब्लाइद स्पिरिट,
बर्ड दाउ नेवर वर्ट !’

‘स्वागतम् ओ मुदित-आत्मा, स्वागतम्,
विहग-रूप धरे अरे, तुम कौन हो ?’

निराला हँसे : “अच्छा है। अभी पढ़िए ही अधिक, अनुवाद बाद में कीजिएगा।”

नया युग नई सभ्यता, नई संस्कृति गढ़ता हुआ आता है। इसमें प्राचीन का आत्यन्तिक परिहार नहीं होता, परिष्कार अवश्य होता है।

रवीन्द्रनाथ कालिदास से कबीर और चण्डीदास-विद्यापति तक की सुदीर्घ परम्परा को कामधेनु के समान दुहते हैं। विदेशी कवियों का चारा डालकर उसका दूध भी बढ़ाते हैं और दूध में नया स्वाद भी पैदा करते हैं। ऐसा सभी करते हैं। कबीर, तुलसी, सूर—सब परम्परा से शक्ति प्राप्त कर आगे बढ़े हैं। न बढ़ते तो ‘काव्यार्थचौराः प्रगुणी-भवन्ति’ का दोष उनके मत्थे मढ़ा जाता। बढ़ गए तो समझिए, परम्परा का परिष्कार किया; प्रगति की।...

हम जिस समय प्रसाद जी के घर पर पहुँचे, वह सोनजुही के पसरे झाड़ में झरने से जल डाल कर मालती और मधुमाधवी के कुञ्ज-निकुञ्ज में विचर रहे थे। झरना हाथ में था। ‘सनिर्ज्ञरोद्गार इवा-द्विराजः’ का सवाक् चित्र। छायावादी कवियों में एक अकेले प्रसाद जी ही हिम-गौर हैं। प्रसाद जी की तन्मयता देखते ही बनती थी। हमारे नमस्कार के अनन्तर कहीं उनकी फूलवनी एकाग्रता आकम्पित हुई।

निराला जी ने मेरे पल्लवित परिचय में इतना परिमल भर दिया कि प्रसाद जी की पुतलियाँ स्मित-कुसुमों से ढक गईं। एक वाक्य तो अत्यन्त ही अद्भुत था : सब इन्हें संस्कृत का पन्त कहते हैं, अब निराला हुआ चाहते हैं !’

ज्यों ही प्रसाद जी की कौतुक-भरी दृष्टि मेरे असिद्धार्थ चेहरे पर जमी, मैंने हकला कर कहा :

“निराला जी की सांख्य-वाणी की तत्त्व-वैशारदी मैं प्रकाशित

कहूँ, सामर्थ्य नहीं। मैं तो पहले भी कई-कई बार, दूर-दूर से आपके दर्शन करता रहा हूँ, अनेकशः प्रणति निवेदित कर चुका हूँ।”

“हाँ, मुझे स्मरण है,” प्रसाद जी हँसकर बोले, “एक बार सार-नाथ में और यहाँ रत्नाकर जी वाली शोक-सभा में आप मेरे निकट ही बैठे हुए थे। नारियल बाजार में भी कई बार देखा है ! आते रहे हैं न ?”

“जी हाँ, एक बार ‘माधव’ जी के साथ। एक बार द्विज जी और सुधांशु जी के साथ। यों अकेले-अकेले कई-कई बार। विनोद जी हर बार बैठे होते थे।”

अभी विनोद-निराला-संभाषण से विक्षुब्ध मन स्थिर न हुआ था, सम्भवतः इसीलिए अप्रत्याशित रूप में एक अटपटा-सा प्रश्न पूछ बैठा प्रसाद जी से :

“एक बाल-प्रलाप या अज्ञान-जनित धृष्ट जिज्ञासा मात्र है, मान-कर क्षमा करें इसे। मैं जानना चाहता हूँ कि हम जिसे रस या रमणीय कहते हैं, वह विनोदशङ्कर व्यास की रचनाओं में नहीं है। फिर उन्हें आपके स्कूल का कलाकार क्यों कहा जाता है ?

“मैंने इधर आपकी कतिपय कहानियाँ पढ़ी हैं। ‘सुधा’ के विशेषाङ्क में ‘स्वर्ग के खँडहर में’ पढ़ी थी। (यों तो उसमें विनोद जी की भी एक कहानी छपी हुई थी।) पहले तो शीर्षक के विरोधाभास ने ही रोका था, फिर कहानी का तो कहना ही क्या ? भाषा भी सबसे भिन्न...

“अभी कल-परसों ‘सरस्वती’ में प्रकाशित ‘सालवती’ पढ़ी। पहले लगा, आम्नदारिका, आम्नपालिका का पर्याय सालवती होगा। किन्तु यह नई सृष्टि थी।

“आपके आदर्श पर चलने का संकल्प वही ले सकता है जो जन्म-जात कवि हो ! आपके चौरस-से दिखने वाले वाक्य भी गहरे होते हैं; एक अपरूप वातावरण का निर्माण करते चलते हैं। प्रकृति-वर्णन अनूठा होता है। “सूर्योदय-सूर्यास्त के प्रत्येक बार नए-नए प्रभाव प्रदर्शित करते हुए अनेक कहानियों का आरम्भ हुआ है। सारा कुछ साभिप्राय है। एक कहानी में है :—कठोर हृदया धरणी के वक्षःस्थल में यह छोटा-सा करुणा-कुण्ड बड़ी सावधानी से प्रकृति ने छिपा रक्खा है।

—जब स्वर-लहरी ठहरी, तब उसकी निद्रा भी टूटी।

—आकाश रूपी शासन पत्र पर प्रकृति के हस्ताक्षर के समान बिजली की रेखा दिखाई पड़ती है।

पढ़ने पर लगता है, कथा-साहित्य पढ़ रहे हैं, किस्सा-कहानी भर नहीं। ऐसे अनगिनत आस्वाद्य वाक्य अन्तर्गूढ़ रस-भावों को सहज-ग्राह्य बना देते हैं।

“और यह सालवती ! यह तो पिछली पढ़ी सभी कहानियों से बढ़ कर है। इसमें इतिहास यथार्थ के ज्वालामुखी पर्वत पर हरी घास-सा झपस आया है।”

प्रसाद जी प्रसन्न थे : “अच्छा ! ऐसी लगी सालवती !”

“जी हाँ,—वह इस छायादान (छायादानात् क्षणपरिचितः पुष्प-लावीमुखानाम् !) को अपनी छोटी-छोटी बीचियों से मुसकुराकर टाल देती है।

“कृतज्ञता परतन्त्र बनाती है”—जैसी सारगर्भ सूक्तियों की सीप-सी वह एक ऐसी सागर-सृष्टि है जो किसी महान् उपन्यास के समान, संश्लिष्ट कथानक के माध्यम से धर्म, दर्शन, राजनीति—सबकी यथेष्ट आलोचना भी करती है, तथाकथित दार्शनिकों के थोथेपन और गण-तन्त्र के खोखलेपन पर व्यङ्ग्य-बाण चलाने में भी नहीं चूकती। मैं उसकी ऐश्वर्य-शिखरिणी चतुरस्र गरिमा का बखान करने में असमर्थ हूँ। परम्परा और अपरम्परा का वह अपूर्व जङ्गम सङ्गम है।

“नेषधीयचरित के सत्रहवें सर्ग में जैसे खण्डन-पक्ष अधिक जीवन्त और ज्वलन्त है, और उसकी तुलना में मण्डन-पक्ष रूढ़ि-ग्रस्त और मन्द-प्रख्य प्रतीत होता है; उसी प्रकार इसका अन्तःसंघर्ष अधिक तीव्र और प्रभावी है, चरम बिन्दु निरानन्द।....”

अभी न मेरा बोलना बन्द हुआ था न प्रसाद जी का मन्द-मन्द मुस-किराना कि भरपूर जलपान का दुर्लङ्घ्य व्यवधान (जैसे आदर्शों के मध्य में कठोर यथार्थ का मैनाक) आ खड़ा हुआ।

दत्तात्रेय की तरह मौन निराला अकस्मात् उत्तर-मेघ के कुछ श्लोकों की अपनी अद्भुत सूझ-बूझ-भरी व्याख्या प्रसाद जी को सुनाने

लगे। पिछले दिन से फिर-फिर चौक-चौक जाता था कि उनके वार्त्ता-लाप में तारतम्य ढूँढ़ना व्यर्थ था। वह कब क्या बोलेंगे, आगे अटकल लगाना कठिन होता है।

अरण्य जल जाने पर जैसे कोई हरा-भरा गाछ काला काठ हो जाता है, मैं हो रहा था। जैसे गङ्गा नहा लेने के बाद कमल-दल के लोभ से सरोवर में नहाने का उपक्रम कर रहा होऊँ, चित्त मेरा कुछ ऐसा ही चङ्क्रमित हो रहा था।

मेरा क्या, गुरु-मुख से जो सुना, वही ज्ञान की सीमा हो गया। मल्लिनाथ जिस घर में ले गए, वहीं अपना घर बसा लिया। इस विराट विश्व में असहाय कैसे रहा जा सकता था! गुरु और 'गुरुणां' गुरुः—दोनों की दी हुई दृष्टियाँ घर और बाहर, अपने और पराए को चीन्हने-पहचानने में विश्वस्त सहायक की भूमिका निभाती हैं।

निराला मौलिक हैं। न संस्कृत के महापण्डितों को आँख मूँद कर स्वीकारनेवाले और न—'लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः' के दावेदार मल्लिनाथ के कायल। प्रवाह के छन्द उनके स्वच्छन्द हृदय में द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं। वह वर्तमान धर्म की व्याख्या लिखने में अपने को खपा दे सकते हैं, किन्तु प्राञ्जल भाषा में मूल नहीं लिख सकते। नीली-पीली ज्वाल पी कर पचा सकते हैं, तुषार-शीतल निर्मल जल उनके हलक के नीचे नहीं उतरता जान पड़ता।

यही तो वे श्लोक थे जिनकी समीक्षा उन्होंने 'सुधा' के सम्पादकीय में प्रकाशित की थी और यही वे श्लोक थे जिन पर निराला की चुनौतियों की चिन्ता न कर कठोर प्रतिवाद लिख भेजा था दो वर्ष पूर्व, सत्रह साल के जानकीवल्लभ ने।

क्या तभी से मेरा प्रतिवाद उनके मन-मस्तिष्क में घुमड़ता रहा था जो बिना किसी पूर्वापर के, कल से आज तक, प्रकारान्तर से भी मेरी ढिठाई की याद दिलाए बिना ही, अभी प्रसाद जी के सम्मुख रुम-झूम कर बरस रहे थे, जब कि प्रसाद जी भीगना नहीं चाहते थे; छींटे बचा रहे थे!

सुस्पष्ट सम्मति माँगने पर सस्मित शब्दों में उन्होंने इतना ही कहा : "आचार्य जानकीवल्लभ से पूछ देखिए !"

रास्ते भर निराला जी अपने सौन्दर्य-बोध से कालिदास की कला को उजागर करते रहे। उनके ज्ञान और विश्वासोत्पादक प्रस्तुति में होड़-सी मची रही। मैं निर्वाक् सुनता रहा। बोले : “लखनऊ पहुँच कर मैं व्यौरेवार लिख भेजूँगा, आप मिलाकर देख लीजिएगा।”

मैं उन्हें यह कह सकने का साहस न जुटा सका कि कालिदास, भव-भूति, भारवि, माघ, और श्रीहर्ष—सब समय मेरी जिह्वा पर विराजते होते हैं। मुझे कुछ मिलाना नहीं है। आदि कवि वाल्मीकि से महाकवि माघ तक ने छहों ऋतुओं के एकत्र होने को स्वीकृत किया है। अब आधुनिक भूगोल उसे स्वीकारे या न स्वीकारे।...

□

□

कक्षा से लौट रहा था, रमाकान्त ने हाँफते हुए बताया कि निराला जी प्रकोष्ठ में पधारे हुए हैं। कुर्ते को गले में लपेटे हुए, खाली बदन ही हैं। कैसी चट्टान-सी काया है ! मैं भागकर आपको बुलाने आ गया। उन्हें देखते ही छात्रावास में कानाफूसी शुरू हो गई है; कन्धे पर जनेऊ जो नहीं है !

वह कह रहा था, मैं तेज-कदम लपका आ रहा था। कल बोले थे, “लौटना है सुबह-सवेरे ही।” मैंने बता दिया था, “प्रातः प्रायः दस तक मैं कक्षाओं में होता हूँ !”

प्रकोष्ठ में पहुँचा तो जान में जान आई। बालमुकुन्द खड़ा-खड़ा बातें कर रहा था, गोवर्धन पन्त उन्हें निःशब्द निहार रहा था। दोनों बी० ए० के छात्र थे। निराला जी ब्राउनिंग की किसी कविता पर कुछ कह-सुन रहे थे। देखते ही आँखों में सरसों फूल उठी। गद्यात्मक परिवेश पर काव्य-गरिमा का पहले ही काफ़ी रंग गहरा चुका था। उसी रौ में टैगोर की कई कविताओं की आवृत्ति सुनाई। मैं जैसे मुचकुन्द की छतनार छाँह में ऊँघने लगा। राजवंशी टैगोर के हृदय में करुणा का ऐसा प्लावन अत्यन्त विस्मयकर था ! निराला चौंकाते हैं, रुलाते कहाँ हैं ?

चाय-जलपान बालमुकुन्द कर-करा चुका था। बताया, देर से इन्तजार कर रहे थे।

निराला ने कहा : “श्लोकों की विस्तृत व्याख्या मैं जल्दी ही लिख भेजूँगा। आप मेघदूत के सन्दर्भ से मिलाकर देखेंगे तो मेरी बात ही

ठीक लगेगी। अभी इलाहाबाद जाऊंगा, पाठक (पं० वाचस्पति पाठक) के यहाँ। दो दिन रुकूँगा। पत्र आपको लखनऊ पहुँचकर लिखूँगा।”

बोलते-बोलते उठ खड़े हुए। मैं हक्का-बक्का-सा रह गया। लङ्का-चौक तक साथ-साथ चलता रहा। सङ्कटमोचन वाले नुक्कड़ पर पान खाने कहा तो मुश्किल से राजी हुए। मुझे कुछ उल्टा-सीधा समझा कर वहीं से लौटा दिया।

मैंने न कभी ऐसे आकार-प्रकार का कोई विद्वान या कवि देखा था, न कभी ऐसी बातें ही सुनी थीं।

हेकड़ी की थी मैंने कालिदासवाले लेख का उत्तर देते हुए। लेकिन अपनी सदाशयता से यहाँ आकर प्रसाद जी के सामने उसकी लम्बी-चौड़ी व्याख्या प्रस्तुत करके निराला ने मेरे बाल-प्रलाप को जो अति-रिक्त गौरव दिया, उससे मेरी हेंकड़ी तो कब की किरकिरी हो चुकी थी? मैं रास्ते भर यही सोचता रहा कि निराला की व्याख्या किसी संस्कृतज्ञ के गले न उतरेगी; किन्तु उनकी मौलिक प्रतिभा का लोहा न मानना भी तो निपट अन्याय होगा!

बात यह है कि आदिकवि से आज तक की परम्परा का हवाला तो मैं उन्हें दे चुका था और यह भी कह चुका था कि कालिदास ने यह भाव आदिकवि से ही अपने कवित्व के प्रसार के लिए प्रेरणा-स्वरूप ग्रहण किया होगा। कोई सोच सकता है कि कालिदास के कवित्व का यह ऐश्वर्य—

तस्योत्सङ्गे प्रर्णयन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वःकाले वहति सलिलोद्गार-मुच्चैर्विमाना
मुक्ता-जाल-ग्रथितमलकं कामिनीवाभ्र वृन्दम् !

वाल्मीकि के एक छोटे-से चित्र—

“ददर्श च नगात्तस्मान् नदीं निपतितां कपिः
अङ्गादिव समुत्पत्य प्रियस्य पतितां प्रियाम् !”

से उत्प्रेरित है?

ऐसे ही 'सर्वर्तुकुसुमे रम्ये' कहकर आदिकवि जहाँ परवर्तियों के लिए वाग्द्वार भर उद्घाटित कर देते हैं, वहाँ कालिदास अपनी 'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्' से दूर-सुदूर निकल जाते हैं।

निरालाजी जिस कला-समग्रता की बात कहते हैं वह संस्कृत की प्रकृति के प्रतिकूल नहीं है। वहाँ भी वह गुञ्जरित व्यञ्जनाओं के भीतर से ही अलौकिक आलोक प्राप्त करती है।

पछतावे की बात यह थी कि वह महान अतिथि जहाँ अज्ञात आतिथेयों द्वारा पाद्य-अर्घ्य ग्रहण कर रहा था, चार सीटों वाले उस छोटे-से कमरे के कोने में सिकुड़ा हुआ आकाश कैसे भी अट नहीं रहा था।

पीड़ित मानवता के कवि ने मेरी विषम असमर्थता और निःशब्द क्रन्दन को विशाल आँखों में समेट लिया था, इससे उनके स्वर में वात्सल्य-विगलित तीव्रता बढ़ ही गई थी।

मैं उतनी दूरी तय किए हुए महामानव की पार्थिव अकिंचनता देख-देख कर बिसूर रहा था, उधर वह कुछ ऐसी ही साहित्यिक उपलब्धि के लिए सतत संघर्ष करते हुए एक नवोदित की, श्लथ वृत्त पर पीली खिलती प्रतिभा परख रहे थे। और, कालिदास लिख चुके थे :—

‘द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।’

मनःस्थिति की अनुरूपता-प्रतिरूपता की चिन्ता किए बिना ही संस्कृत में कुछ-न-कुछ लिखता रहा हूँ। मुक्तक, गीत, गजल, रूबाई, कवित्त-सवैये—सबकुछ। संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं में कुछ कहानियाँ भी छप चुकी हैं, निबन्ध और आलोचनाएँ भी।

अनियमित लेखन अध्ययन के आड़े नहीं आता। लिखना पढ़ने का पूरक नहीं, प्रेरक है। आविष्कार भी है अपना कि पढ़ाई ही दुहराई गई है या कुछ अपूर्व-अद्भुत भी बाहर आया है !

□ □

आज अचानक लेडीज़ होस्टल वाले नुक्कड़ पर वाजपेयीजी से मुलाकात हो गई। देखते ही बोल उठे : “निरालाजी कल इलाहाबाद चले गए। जाते-जाते भी आपकी ही चर्चा करते रहे। वह आपके साहित्यिक ज्ञान और रचना-क्षमता की प्रशंसा करते थकते न थे। ‘जूही की

कली' का अनुवाद उन्हें बहुत पसन्द आया। संकोचवश वह प्रसादजी को सुनाने का प्रस्ताव न रख सके। मैं होता तो...."

मैं विश्वनाथ-अन्नपूर्णा के दर्शनार्थ नंगे पाँव नगर की ओर जा रहा था। उन्होंने मिलते रहने का वचन लेने पर ही आगे बढ़ने दिया।

नैषध-माघ का निगूढ़ तत्त्व भी मुझे रास्ता चलते ही हाथ लगा था। बैठकर पढ़ना मेरी प्रकृति में न रहा।

अभी निराला की बहुविषय-स्पर्शिनी प्रतिभा पर सोचता-सोचता चल रहा था कि जबतक उन्हें देखा न था, उनकी कविता का अर्थ अपने ढंग से समझ लेता था क्योंकि उनकी प्रत्येक विवादास्पद रचना इतिहास बन चुकी थी और नवागन्तुकों को नई दिशा-दृष्टि दे रही थी। कम-से-कम यह आलोक-शिखा तो अवश्य ही दिखा रही थी कि अक्लिष्ट बाल-पल्लव-सी रम्य-रचना को तत्काल लोकप्रियता प्राप्त हो जाती है, जैसी पन्तजी को हुई :

कहो, कौन हो दमयन्ती-सी
तुम द्रुम के नीचे सोई
आह ! तुम्हें भी छोड़ गया क्या
अलि, नल-सा निष्ठुर कोई।

यहाँ जड़ परछाई को चेतन भर नहीं बनाया गया है जैसा कि कालिदास ने मेघ को बनाया है। बल्कि उसमें नल द्वारा निठुराई से छोड़ी हुई दमयन्ती की धारोष्ण समवेदना भर कर एक सजल काव्य-सृष्टि निर्मित की है जिसके लिए नवीं शताब्दी के आनन्दवर्द्धन ने शास्त्रीय छूट दे रखी थी :

भावानचेतनानपि चेतनवत्
चेतनानचेतनवत्
व्यवहारयति यथेष्टं
सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ।

किन्तु जब निराला यमुना से पूछते हैं :

स्वप्नों-सी उन किन आँखों की
पल्लव छाया में अम्लान

यौवन की माया-सा आया मोहन का सम्मोहन ध्यान ?

तब बात अन्योक्ति-समासोक्ति अथवा मानवीकरण-विशेषण-विपर्यय तक ही सीमित नहीं रहती, गूँजों-अनुगूँजों से पूरे परिवेश पर छा जाती है। प्रीति-स्फीत आँखों की घनी-चिकनी पलकों में पलने वाले सपने सम्मोहक स्मृतियों में जाग गए हैं। यमुना भूली-बिसरी सुधों में खोई-खोई-सी थी जो अचकचा कर अँगराइयाँ लेने लगी है। अनमनी हो उठी है कुछ रहस-गोपन खोकर, कुछ चमकते चित्रों पर पड़ी धूल उसासों से उड़ा कर। यमुना आज जैसी है, आगे तो ऐसी न थी। तब के अनुभव एक लम्बी अवधि पारकर फिर अभिनव हो उठे हैं। उनमें और नशीली तीव्रता आ गई है। कवि उसे इसी रूप में देख रहा है।

आँखें अब स्वप्नों-भरी नहीं हैं, स्वप्नों-सी हो गई हैं। 'जानत तुमहि तुमहि हवै जाई।' स्वप्न देखते-देखते स्वप्न ही हो गई हैं। ऐसे ही मसृण पलकें—घनी-चिकनी बरौनियाँ पलक-पल्लवों की फिसलती-सी छाँह दिखती है जिसके अन्तराल से छलकती-छिपती 'यौवन-मद-मत्ता' स्मृति बहुरी है।

— निराला को देख लेने पर भावान्तर हो गया है। अब अपनी दृष्टि का विश्वास कुहासे की तरह उड़ता दीख पड़ता है। निराला की उल्वण पदावली, बंकिम वाक्य-विन्यास एवं निगूढ़ ध्वनियोंवाली रचनाएँ चाहे जैसी समृद्ध हों, सामान्य जनों को वह सहसा स्वीकार्य न होंगी। लोक पीटनेवाले, पूर्वाग्रह-ग्रस्त, अहम्मन्य आलोचकों को भी नहीं क्योंकि वह देशी-विदेशी सरणियों को ही दुहराते रहने के अभ्यासी होते हैं। समीक्षा को भी नए-नए उन्मेषों की प्रतीक्षा होती है, उन्हें इसकी आंशिक चिन्ता भी नहीं होती। जैसे प्रत्येक रचनाकार से उसके निजी नए तेवर की अपेक्षा होती है, ठीक उसी प्रकार समीक्षक से भी मौलिक उद्भावनाओं की अपेक्षा रचनाकार को होती है।

सो जो हो, निराला के दर्शनमात्र से साहित्य-साधना का अर्थ अर्थान्तर-सङ्क्रमित हो गया है। आत्मविश्वास के कैलास को प्रतिकूल हवाएँ नहीं हिला सकतीं, शनि की अशनि-किरणें श्यामल नहीं कर सकतीं। ध्रुव-दृष्टि तथागत का साक्षात्कार सारी प्राचीन विचार-

परम्पराओं को हिलाए दे रहा है। डा० बड़थवाल जिस तन्मयता से—

दूर गाँव की कोई वामा
आए मन्द-चरण, अभिरामा,

की निराली व्याख्या सुन रहे थे कि जैसे निराला की सौन्दर्योन्मेषिणी प्रतिभा की अतल अगाधता उलीची जा रही हो, वह क्या दूरगामी मूल के अन्तःप्ररोहों का गगनचुम्बी उच्छ्राय ही न होगा ?

पिछले उन्नीस वर्षों की कृच्छ्र तपःसाधना का आग्नेय काव्य-विग्रह ढाई दिनों के शेषांश सान्निध्य में ही मेरी धुआँती चित्तवृत्ति को प्रज्वलित कर चला गया।

काव्य-कला क्या है, इसे स्पष्ट करने के पुनः-पुनः प्रयत्न हुए हैं। किन्हीं दो का ऐकमत्य नहीं देखा गया। फिर भी मुख्य अन्तर परिभाषाओं को ही लेकर है, अपने तर्क कविता जो है, सो है। बहुरूपता में एकता का आनन्द लेना हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

गमियों में घर जा रहा था—अपने गाँव। साथ सामान के नाम रामभजो था। राजा शिवप्रसाद गुप्त वाले घाट से नाव से रामनगर की ओर, गंगा पार करने का विचार था। पार उतरा तो पहले एक अदद बताने वाले की मदद से राजभवन के वे सभी भाग देख डाले जो ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे किसी को भी दिखाए जा सकते थे। सुरंग के जरिए अन्तःपुर से गङ्गा तक ले आने वाली सोपान-परम्पराओं को ऊपर से दिखाते समय राजकीय ऐश्वर्य की फैली हुई द्युति-दीप्ति की चकाचौंध मुझ पर हावी न हुई, हाँ, बाहर मुचकुन्द की छतनार छाँह में खड़ी खुले केशों वाली एक स्वर्वालिका ने बेशक मेरे घुमन्तू टखनों और पंजों की थकन मेट दी, घनी टहनियों के बीच से श्यामा की तरह कूककर : 'कहाँ से आए हैं आप ?'

'यही तो नहीं जानता। गङ्गा की आत्मा के दर्शन हो गए। आना-जाना तो लगा ही रहता है यहाँ।'—मैंने कहा।

बालिका हँसी तो जैसे कच्चे धागे में पिरोई हुई कुन्दमालिका अध-बीच से टूटकर बिखर गई !

पाँव-पाँव मुगलसराय तक चल कर जाना था। आगे एक फर्लांग तक बालिका के केश लहरें ले रहे थे, अब चनों की गदराई फलियाँ पगडंडी के दोनों ओर हवा में झूम रही थीं। कुछ दूर तक लोभ और प्रलोभन पर विजय पाने की कामना घूँट-घूँट पीता रहा फिर थोथे फलसफे को झटक कर ज्यों ही फलियों-लदे झाड़ उखाड़ते निबुका, किधर से भी किसी कनक-छरी-सी कमनीय कामिनी के करुण-कोमल कण्ठ से फूटी तरण-तारण गालियाँ सुनाई दीं।

राज्यश्री निरख कर, समृद्धि की अर्चियों के बहु-वर्ण स्फुलिङ्ग देखकर, मेरे मन को जो न मिला वह यहाँ लहलहाती फसल पर मण्डल बाँधते खञ्जन और नीलकण्ठ देखकर मिल गया था।

राजप्रासाद के विटङ्क से उड़ान भरते कपोत-पोतों के पंखों की घनघनाहट और घूटर-घूं की सन्तत ध्वनियों से जो यन्त्र झंकृत न हुआ था, वह यहाँ खेतों में बगेरियों की बहक और मेड़ों पर गौरियों की चहक से अनजानते छू गया। मधु-मकरन्द पिए भौरों के टूटे-बिखरे स्वर-गौरव से तो मेरा मन मतवाला हो उठता है; किन्तु वही मन सुरा-पान-घन-अन्धकार में लड़खड़ाते मानवीय कलुष को प्रकाश में देखकर, जाने क्यों, कुत्सा से भर जाता है।

अञ्जनीनन्दन जब सागर पार कर गए, तब उन्हें पहले स्वर्ण-निर्मित लङ्का के रत्नजटित प्रासाद नहीं दिखे, दूर-दूर तक फैली-मैली वनराजि दिखाई दी; फल-फूलों-लदे मलयगिरि के वन-उपवन दिख-लाई दिए, केवड़े, लसोड़े (उद्दालक) और नारियल के वृक्षों-सजे पर्वत-शृङ्ग दीख पड़े थे। यहाँ क्रम बदला-बदला-सा था। पहले महल और राजकीय वेश, फिर खेत और धूलि-धूसर राष्ट्रीय जन-गण नज़र आए।

गालियाँ बकनेवाली अधेड़ थी, मेरे झुके कन्धों तक चढ़ी चली आई थी, कसमसाता बदन लहरा कर, जहरीली हँसी हँस रही थी। वह पुरुष भी सिँह नहीं, चमकते जबड़ों वाला लकड़बग्घा था।

तब चने एक रुपए में आठ सेर मिलते थे। मेरी मुट्ठी में जो फलियों वाला झाड़ था, मुश्किल से एक घेले का होगा। उनके पास पहुँचने तक मेरी बुद्धि और कल्पना शक्ति अपने चरम विकास पर पहुँच चुकी थी। मैंने अधेड़ के आगे अपनी मुट्ठी खोल दी—एक रुपये का सिक्का था, खाँटी चाँदी का। उसका लड़का पट-से उठा भी लेता, मगर लड़की की ज़बान लड़खड़ा गई : यह तो...यह तो...

हाँ, मैंने कहा, मैं यहाँ का नहीं हूँ। बहुत दूर—गया जिले के एक गंवई गाँव का रहने वाला हूँ। गदराई फलियाँ देख मुँह में पानी भर आया तो दो-चार झाड़ उखाड़ लिए। भूल हो गई। दाम ले लीजिए। बिटिया आपकी महल से खेत तक पीछे-पीछे आई है, पूछ देखिए।

दाम ! पुरुष बनारसी भोजपुरी में पौरुष उगलने लगा तो छोरी जोर देकर कहने लगी : नहीं, चोरी नहीं की है। चोर भाग खड़ा होता या रुपया लेकर तुम्हारे आगे आ जाता ?

यथेष्ट शिक्षित होने का दावा करने वाले भी अशिक्षितों को

असंस्कृत नहीं प्रमाणित कर पाएँगे। भारत का यह सहज धर्म-दर्शन आँखें खोलने वाला है।

व्योरेवार बातें बतलाकर आगे बढ़ने लगा तो छोरी ने और दस झाड़ गँठियाकर मेरे हाथ में हल्के थमा दिए, मैंने उसके सौ बार मना करने पर भी, छोटी बहन कहकर वह रुपया उसे जबर्दस्ती दे दिया।

मैंने उत्तराधिकार-स्वरूपजो भी प्राप्त किया है,—धर्म, दर्शन, कला या साहित्य; वह सबका सब पूर्वजों का ही दिया हुआ नहीं है, उसमें मेरा हरदम मरता जीवन, और समसामयिकों का ऋण भी कम नहीं है। टेढ़ी भवों में अटके तिनके और मिचमिचाती आँखों की किर-किरी ने मेरे अन्तर्मन में कुछ कम अँखुए नहीं उगाए हैं।

डेढ़ घंटा लगातार चलकर मुगलसराय पहुँचा तो धुएँ के बादल सूरज की घेराबन्दी करते दिखलाई दिए। प्लैटफार्म के एक बेंच पर बैठ गया। धूल झाड़ कर पसीना पोंछा, फिर पसर गया।

.....रचनात्मक समस्याएँ, समकालीन काव्य से सम्बद्ध, अनेक हैं, समाधान ढूँढ़ने वाले परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते हैं। हम किस पैटर्न के ताने-बाने बुनें, जो जग और युग के अधिक अनुरूप हो। तभी प्रसाद और महादेवी के अन्तर्मुख गीतों के सहारे आत्म-प्रकाश असम्भव प्रतीत होता है। निराला ने पन्त की व्याख्या जिन शब्दों में की है उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि पन्त छायावाद के प्रतिनिधि कवि हैं या अपने समय के मानक नियामक कवि भी?

अभी उस दिन अस्सी चौरस्ते के नुक्कड़ पर परमानन्द वाजपेयी, भगवतीप्रसाद सकलानी और मैं उनसे बातें करते समय इस संशोधन पर पहुँच गए थे कि पन्त, प्रसाद, निराला नाम के क्रम में उत्तरोत्तर गौरव की स्थापना हुई है। पन्त से प्रसाद बड़े कवि हैं, प्रसाद से निराला।

शान्तिप्रिय जी पन्त के काव्य में लालित्य और सौकुमार्य की पराकाष्ठा बतलाते हैं। मैंने पूछा था, ऐसा लालित्य और सौकुमार्य कालिदास से कहीं अधिक जयदेव में है तो क्या जयदेव कालिदास से बड़े कवि हैं? इस पर तिनक कर वह मुझसे पूछ बैठे थे कि रवीन्द्रनाथ से माइकेल मधुसूदन में ओजस्विता कहीं अधिक है तो क्या माइकेल मधुसूदन रवीन्द्रनाथ से बड़े कवि हैं? निराला में पन्त से अधिक ओज-

स्विता है और क्या ? पन्त-जैसा सूक्ष्म सौन्दर्याङ्कन और भाषा की पारदर्शिता निराला में कहाँ है ?

मैं कहता, स्वच्छता और गम्भीरता दो गुण हैं। घुटने भर जल वाला तालाब अधिक स्वच्छ हो सकता है मगर वह समुन्दर के मुकाबले कहाँ खड़ा होता है ? अगाध होने के कारण सागर आर-पार नहीं दिखता, यह क्या कोई कलङ्क की बात है ?

एक मामूली आदमी से मिलने जाओ तो वह सारा दिन खातिर-दारी करता रह सकता है; अपने सुख-दुःख सुनाकर मन का वज्रन बढ़ा सकता है दूसरी ओर कोई एक बहुत बड़ा आदमी है, उसे साँस-साँस की गिनती करनी होती है, वह बहुत समय नहीं दे सकता, थोड़े में वारा न्यारा कर देता है, तो क्या वह मामूली आदमी के मुकाबले गया-बीता है ? नल-दमयन्ती की कल्पना में केवल चमत्कार है। अम्लान यौवन की माया का स्वप्नों की भाँति पलकों की सघन छाया में उतरना उससे कहीं अधिक निगूड़ सौन्दर्य-सृजन है। मोहन का सम्मोहन ध्यान उसी से तुलित होता है। दूसरी ओर यमुना की आँखें ही स्वप्न-सरीखी दिखती हैं, उन-किन शब्दों द्वारा उनकी भावैक-गम्यता सहृदय-संवेद्य ही है। क्योंकि मानवीय संवेदनाओं से संगुम्फित होने पर भी वे दिखती कहाँ हैं ? अदृश्य आँखों की 'पल्लव छाया' का कमाल अलग से देखने योग्य है। पल्लव-छाया जो बिम्ब उभारती है, उससे कालिन्दी को घनी बरौनियाँ, काली-कजरारी आँखें, फिसलन-भरी रेशमी पलकों की छाँव, सब दिख जाती हैं।

कवि कहता है :

यमुना, बाहर भेद न खुलने देने वाली और चुपचाप रँगारंग सपने सँजोए हुए वैसी कैसी आँखें हैं तेरी, जिनकी अनुराग-भरी घनी छाया में अछूते यौवन-की माया की भाँति मोहन का सम्मोहित करने वाला ध्यान अचानक आ गया ?

मोहन के सम्मोहित करने वाले ध्यान से अछूते यौवन का ही सम्बन्ध रहा है। ढलती वय में चढ़ती तरुणाई की स्मृति जैसी उन्मादक होती है वैसा ही सम्मोहित करने वाला मोहन का ध्यान है, जिस कारण आज यमुना अधिक अनमनी हो रही है !

यहाँ कृष्ण या श्याम शब्द वह सम्मोहन नहीं पैदा कर सकता था

जो मोहन कर रहा है। जो मोहन है, सम्मोहित करना उसी की प्रकृति हो सकती है। यमुना कब से अनन्त की ओर बहती जा रही है। कभी रुकी-थमी नहीं। आज ऐसा जाने क्या हुआ कि उसकी आँखों में विगत व्यतीत के सपने उतरा आए और वह जैसे किसी जादू के जोर से अपना जीवन-प्रवाह भूलने लगी है। पलट कर पिछली यादों में खोई-खोई जा रही है !

दरअसल काव्य की नई चेतना के संवाहक कवि की ही अन्तःस्थिति कुछ ऐसी हो गई है जो वह मध्ययुगीन सौन्दर्य और माधुर्य-मयी जीवनधारा का प्रत्यवलोकन कर रहा है। वह जानता है, अब वह माधुर्य कभी न लौटेगा। वह सौन्दर्य और लालित्य जो पीढ़ियों को अभिभूत किए रहा है, अब अपनी उन्मत्त कर देने वाली स्मृतियाँ छोड़कर सदा के लिए समाप्त हो गया है। काव्य में नई चेतना के प्रवर्तक उस रस-भाव से अपरिचित नहीं हैं, प्रत्युत उसी के भीतर से अब वह नए उत्स का सन्धान कर रहे हैं। 'भानु सिंहेर पदावली' गीता-ञ्जलि में अनुगुंजित हो रही है। कवि की भावप्रवणता उसे यमुना-किनारे भुलावा देकर नहीं ले जाती, पल भर को उसकी प्रबुद्ध चेतना ही यमुना बन गई है। वह सूर-मीरा के युगों की अन्तर्यात्रा पूरी कर खड़ी खूरदुरी ज़मीन पर आ जाता है। उसकी आँखों की यमुना में प्राणों की चञ्चल लहरें पल भर को उठती और फिर विरस वर्तमान में विलीन हो जाती हैं।...

यहाँ, जहाँ बैठा-बैठा निराला-पन्त पगुरा रहा था, वैज्ञानिक अनुसन्धान दुर्लभ्य को सपाट बनाने में लग गए थे। विश्व का विस्तार सिमटता-सिमटता अणुपरिणामी हो गया था। अँधेरी शक्तियाँ लाल वत्ती दिखा रही थीं।

सागर-संगम से गङ्गा को क्या लाभ हुआ, अपना नाम और रूप भर गँवा बैठी।

यन्त्रणा में मुँदी आँखें आनन्द-दीप का शीतल उजाला चाहती हैं; मलय समीर की सुगन्ध से लड़खड़ाते पाँव जीवन की समतल भूमि माँगते हैं, मगर अभी मिली है एक धुआँती-धधकती, शोर करती ट्रेन,

जो मुझे नगर की कड़वाहट से दूर, गाँव की मिठास की ओर लिए जा रही है।...

मैं जब-तब ही अपने गाँव जाता हूँ। एक जननी के न होने से जन्म-भूमि अपना आकर्षण खो बैठी। जंगली इलाका है। अब वहाँ के प्रकृति-दर्शी उदासीन बूढ़े महादेव और वन्य प्रकृति से ही मुझे निःशब्द आमन्त्रण मिलता है। छोटी बहन के लिए पिता-श्री ने भभुआ के पास शाहाबाद जिले के एक गाँव—पण्डितपुरा में कोई लड़का पसन्द किया है। मुझे भी उसे देख लेने कहा है। मैं भभुआ रोड स्टेशन पर उतर जाऊँगा, बस, घंटे भर की और देर है।...

स्टेशन पर झुण्ड के झुण्ड लोग उतरे। एक भी पहचाना चेहरा नहीं। झूम-झूम कर चलना मेरी आदत में है। अभी जो सज्जन झुर-मुट मार कर मेरी बगल से निकल गए, वह टकसाल के छोटे लगे। तिनके की ओट पहाड़ की कल्पना फिर भी जेहन में न आई थी। पण्डितपुरा का पता लगाने पर एक पानवाले ने बताया : लगभग छह कोस है। पान के पैसे देने जेब में हाथ डाला तो जेब ही नदारद। अरे, यह तो उसी छोटे की करामात होगी ! इधर-उधर काफ़ी नज़र दौड़ाई, बड़बड़ाया; मगर मेरे ताव पर वह तो मिलने वाला न था। ताव में आकर कटी-फटी जेब इस-उस को दिखाता भर रह गया।

रात में उधर जाना ठीक नहीं, पंचों ने सख्ती से मना किया। यहाँ की सुरक्षा आगे ही प्रमाणित हो चुकी थी। बाहर की जेब में जो पैसे थे, जा चुके थे, भीतर धोती के छोर में कुछ गँठिया कर रखे थे, हाथ बार-बार उसी छोटी-सी गाँठ पर जाता था। जैसे पुरुरवा का प्रतिष्ठानपुर आज की घास-फूस की झूसी हो गया हो ! आधे पैसे निकल जाने पर मैं अधूरा हो गया। जुए में नधे बैल को भूख लग रही थी। हलवाई की झुग्गी के बाहर नागर-मोथे की गन्ध फैल रही थी। पान के पैसे देने ही देने थे। गिनती में आने के लिए गाँठ खोलना ज़रूरी था। उधर डर के मारे गाँठ पर गाँठ पड़ गई थी, दुअन्नी अठन्नी दिखती थी। दाएँ-बाएँ देखकर पानवाले को अन्नी दी। हलवाई ने एक फटी चटलाई बिछा दी। रात उसी दुकान में गुज़ारनी थी। लकठो, टिकरी और लाई—चार आने में पेट भर गया। फिर ऐसा जाने कौन-सा टोना-मोना हवा ने किया कि राम की, बनवास के दिनों की, चर्या

याद करता-करता सो गया ।

देर से उठा । काली-काली चाय पी रहे थे लोग-बाग । मैंने पास ही विक रहे बीजू आम दस-पन्द्रह खा डाले । अनजान जनों के बीच जाना था, टिपटाँप हो लिया ।

जंगल पहाड़ की चढ़ाइयाँ और ढलानें अजनबी नहीं हैं । यहाँ के सूखे-उजड़े खेत, मीलों एक पेड़-पौदे का दरस नहीं, अजब लग रहा था । दो घंटे लगातार चलते रहने पर चार मील मुश्किल से तय कर पाया । रास्ते से हट कर एक मड़ैया दिखाई दी और एक फूला-फूला नीम का गाछ । मड़ैया देवी की थी । प्रतिमा नहीं, नौ पक्की पिंडियाँ थीं—सम्भवतः नव-दुर्गा की प्रतीक । शक्तिपीठ देखकर मुझे उत्तेजना होती है । नीम की छैयाँ तले बैठते ही आँखें मूँद गईं । आदतन 'कालीकपूर' बुदबुदाने लगा ।

प्यास-सी लग रही थी पत्थरों-भरे कुएँ को । गहराई को अंकुश हो तो लिहाज करे कुछ । बशर्ते वह अंकुश माने और उथला आए । अंग-अंग ढीले हो रहे थे । ज़रा-ज़रा-सी बात पर अंगारे उगलने लगता हूँ, सो जैसे इस घड़ी ऊँच-नीच समझकर बरतना चाह रहा होऊँ, ठंडा पड़ रहा था । ऊपर-ऊपर की बातें करनेवाला भी तो कोई न था ।

इतने में पायल की-सी ध्वनि सुनाई दी । नीम के फूलों की हँसी हँसती हुई उसी की पत्तियों-लदी टहनी-सी एक लड़की नीचे उतरी । चकराता सिर उसकी चकाचौंध पैदा करने वाली चमक न सह सका । चुँधिआई आँखों उसकी लाल पाड़ की साड़ी, नथ, टीके, काजलवाले चेहरे की एक झलक भर देखी और चेतनाशून्य हो गया ।

तन्त्रों में अधोमुख त्रिकोण को शक्ति और ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को शिव कहते हैं । अधोमुख चार त्रिकोण और ऊर्ध्वमुख पाँच त्रिकोण होने पर श्रीचक्र बनता है । कुछ पाँच अधोमुख और चार ऊर्ध्वमुख त्रिकोणों से बना श्रीचक्र मानते हैं । सो जो हो, मुझे वह व्यक्तित्व श्रीचक्र की अधिष्ठात्री देवी के समान जान पड़ा था । उस सुनसान स्थान के सन्नाटे में पेड़ से उतरते समय जब पायल गूँजी थी, तब भी अनजानते रोम-रोम सिहर उठे थे । किसी जंजाल में पड़ने-जैसा नहीं, ओचक जंजीर डाला हुआ-जैसा अनुभव कर रहा था । छोहाकर रोक लिया गया-सा दिन के चाँद को बादलों में गुमसुम छिपते देखता रह

गया था। पहले ध्वनि, फिर प्रकाश, यह क्रम अवैज्ञानिक था, पर झाँकी वह वैसी ही थी। उसे पायल की गूँज के साथ पेड़ से सरककर उतरते देखा, ज़मीन पर पाँव रखते नहीं। फिर कहीं कुछ न था।

चेतना लौटने पर अनुभव किया, जैसे माथा अऊल रहा हो। चार बज रहे थे। चित्त अकुला रहा था। आसमान में यहाँ-वहाँ किसमिसी बादल छितराए हुए थे। दूर जाने के लिए काफ़ी देर हो गई थी। तभी जैसे हवा में ये शब्द गूँजे—‘यदर्थं त्वं परिश्रान्तस् तत्कार्यं नेह सेत्स्यति ।’

‘जब वह काम यहाँ नहीं होने का, तब मुझे क्यों हैरान कराया माँ?’—बड़बड़ाता हुआ उठ खड़ा हुआ। पिण्डियों को प्रणाम किया, संतुष्ट दृष्टि से नीम के गाछ को भी देखा, माथा नवाया, माथे पर दो फूल चू पड़े। जल्दी-जल्दी सीधे रास्ते पर पहुँच गया। वहाँ दो-एक पंडितपुरा का रास्ता बताने वाले मिल गए। मैं पेड़ और मड़ैया को तब तक पलट-पलट कर प्रणाम करता रहा जब तक उनमें से एक ने रोक कर मुझे चौंका न दिया :

“पीछे पलट-पलट कर, मुड़-मुड़कर, बार-बार उधर क्या देखते हैं आप?”

मैंने कहा : “वहाँ पर माई का मड़ैया है न। और नीम का एक खूब झबरा गाछ। वहीं मैं दुपहर भर पड़ा रहा था।”

अब दूसरा कड़क कर बोला—“यहाँ चार कोस में तो ऐसी कोई जगह नहीं है।” उत्तर में मैंने तपाक से उत्तर की ओर हाथ उठाया : “और वह क्या है?”

लेकिन अचम्भे में मेरी जीभ तालू से सटकर रह गई। मुझे भी वह जगह अब नहीं दिखी।

मैंने गिड़गिड़ाकर कहा—“अभी मुश्किल से एक फलाँग आए होंगे, क्या आपलोग मेरे साथ इतनी दूर वापस नहीं चल सकते हैं? फिर हाथ-कंगन को आरसी क्या?”

एक ने मुझे सिर से पाँव तक घूरा :—“पागल तो नहीं हैं आप? हम यहाँ के रहनेवाले हैं। आज तक ऐसी कोई जगह नहीं देखी। आप हमें दिखाएँगे?”

“हाँ भाई, मैं दुपहर भर वहीं रहा। किसी झाड़ी-झुरमुट की खोज

करता आ रहा था। गर्मी और प्यास के मारे नाकोंदम था। उधर घर भी दिखा, पेड़ भी, मैं चला गया। माता के दर्शन भी हुए।”

“आपका होश दुरुस्त है या दवा करूँ उसकी !”

“माँ को देखने पर होश उड़ गया था। हौलदिल-सा होने लगा था। अब तो होश ठिकाने है।”

“है तो हमें क्या दिखलाने कहते हैं? यहाँ चारों ओर चार कोस तक देवी की कोई मढ़ैया नहीं है।”

मेरे आग्रह, अनुरोध और अनुनय पर तरस खाकर वे लौटे। लेकिन यह क्या? मैं जहाँ तक देखता और प्रणाम करता आ रहा था उसके आगे तक चले आए, वाकई वहाँ अब तो कहीं कुछ न था। मेरी रोनी सूरत पर ठठा कर हँसे दोनों।

उन्हें पंडितपुरा से काफी आगे तक जाना था। रास्ते में तरह-तरह के किस्से सुनाते हुए मुझे दया करके ठीक ठौर तक पहुँचा दिया। जैसे चमेली के कुञ्ज से निकल कर बबूल-वन में आगया होऊँ! आसमान का रंग किरमिची हो गया था। मायूस जमीन की रुखाई आसमान के मासूम बादलों पर फिर-फिर नज़र ले जाने पर मजबूर कर रही थी। साथ आए लोगों की शराफ़त मन को मुलायम कर रही थी कि घर के मालिक जब तक सामने नहीं आते, वह वहीं के वहीं खड़े रहेंगे। उनकी जमी हुई बातचीत शान्ति की महिमा समझने में पर्याप्त सहायक होती, अगर वहाँ और कोई मेरे ही स्वभाव का होता।

पाँच मिनट में श्री उमानाथ पाठक एम० ए० साहित्याचार्य प्रकट हुए। इस घटना के कुछ ही दिनों बाद वह गया के ब्रजभूषण कॉलेज में प्रिंसिपल और फिर नालन्दा कॉलेज में प्राध्यापक हुए थे। साथियों ने राहत की साँस ली। उन्होंने सम्मिलित स्वर में देवी वाली घटना कुछ घटा-बढ़ा कर उन्हें बता दी, फिर चले गए।

मेरे घर आए होते तो मैं कुछ खिलाए-पिलाए बिना उन्हें यों हर्गिज़ न जाने देता। भूख-प्यास से तो मैं स्वयं ही अधमरा हो रहा था। पथ के साथियों के हँसी-ठहाके खींचे लिए आ गए थे यहाँ तक।

धीर-गम्भीर स्वर में उमानाथ जी ने पूछा कि क्या मैं बहुत पूजा-पाठ करता हूँ।

झुंझलाहट दबाकर झोंक में मैंने बक दिया : “हाँ, जब से चिन्ता-

मणि मन्त्र (अवामा वामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत् तदन्तर्मन्त्रं मे) से मित्रता हुई, मैंने जैसे जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लिया, फिर और किसी अटपटी आकाँक्षा से अभिभूत नहीं हुआ। किन्तु अभी तो—A glass of water, please.”

वह जैसे सकते में आ गए हों, सकपका कर बोले—

“हाँ, हाँ, ...”

और झटपट दीवार की अलमारी खोलकर खनकते-चमकते चाँदी के बर्तन निकाले। फिर पाँव धोने के लिए चाँदी का परात ज़मीन में रखा। शाकद्वीपीय ब्राह्मणों की यह जातीय प्रथा है कि वे किसी शाकद्वीपीय अतिथि के पाँव थाल-परात में ही धोते हैं। मैं अपने धूल-धूल पाँव की ओर संकेत कर हँसा, जब तक चाँदी की झारी से शीतल जल झरने लगा। ...

“ज्ञान मानवीय विचारों की ऊँचाई के पीछे उगे हुए नक्षत्र के समान है। उसका सीधा प्रकाश मन पर नहीं पड़ पाता, शास्त्र आड़े आ जाते हैं।

“आपका यह सोचना सही है कि मैंने पहले कहीं वह छवि देखी थी। ‘श्यामासंगीत’ के प्रवर्तक साधक रामप्रसाद की एक तस्वीर दक्षिणेश्वर कलकत्ता में देखी थी। रामप्रसाद भाव-विभोर होकर अपने हाथों अपनी टूटी कुटिया की मरम्मत कर रहे हैं। मरम्मत के सामान का जुगाड़ उनके पीछे खड़ी छवि कर रही है। खरपात, रस्सी, बाँस—जब जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह हाथ फैलाते हैं, और छवि सामान बढ़ा देती है।

“उसे देखकर मैं भावाभिभूत हो गया था। आज की ही तरह पञ्चवटी वाले चबूतरे पर पाँच घंटे बाह्य-शून्य-सा बैठा पड़ा रहा था। सोचता था, क्या मेरा भी ऐसा जीवन हो सकता है? मैं यों तो प्रत्येक प्रकार से अकिंचन हूँ पर यह स्थिति मुझे जाने क्यों, कतई स्वीकार नहीं है। कंचन की ओर मेरा झुकाव नहीं है, फिर मेरा सामान्य से सामान्य मनोरथ भी किस विधि पूर्ण होता?

“रामप्रसाद सिद्ध पुरुष थे, मैं तो असिद्ध भी नहीं, निषिद्ध व्यक्ति हूँ। काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य—सबका समुदय। मेरा अभाव मेटने वह हाथ किस विधि बढ़ेगा? ...”

—मैं प्रलाप कर रहा था। देखते-देखते दरवाजे के सामने दस-जोड़े बैल बाँध गए। अलग-अलग टोकरियों में उनके लिए चारा-दाना आने लगा। चार-पाँच आदमी उनकी सेवा में जुट गए। पीछे पता चला, गाँव में जिसके यहाँ भी शादी के लिए कोई लड़का देखने आएगा वह इसी बरामदे में ठहराया जाएगा और उसे दिखलाने के लिए गाँव भर के बैल इसी प्रकार इकट्ठे बाँध दिए जाएँगे।

लड़का देखने के पहले गाँव भर के बैलों को एक साथ देख लेना मेरा परम सौभाग्य था।

दो तगड़े बैल मुझसे सींग लड़ाने आगे बढ़ आए। मैं पायताने की तरफ सरक गया। वह सर चढ़कर खांटी भोजपुरी में बोले :

“जब आप पण्डितपुरा आने के लिए घर से निकले होंगे तब तो आपकी छाती गज भर की हो गई होगी ?”

‘हाँ’—मैंने कहा—“मगर यहाँ आते-आते जीभ गज भर की हो गई है।”

“क्या मतलब ?”

“जी, गड़-गड़ के गड़-ग्रन्थ पढ़े हैं, गड़-गड़कर बातें करना फिर भी न आया।”

“क्या मतलब ?...हम कुछ समझे नहीं।”

जी, बैल भूखे हैं ! लोग दमड़ी की हाँड़ी भी ठोक-बजाकर लेते हैं, बैल तो पीठ ठोककर खरीदे होंगे !...

“फिर भी यहाँ क्या इतने ही बैल हैं ? खेत तो आँगन तक फैले हैं !”

“आँगन तक ? अजी, पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, जहाँ तक आपकी नज़र जाती हो, सब इनके ही खेत हैं।”

मैं मुस्कुराया :

“मुझे क्षेत्रफल निकालना नहीं आता। मैं तो यहाँ सिर्फ लड़का देखने आया हूँ,...”

“लड़का ? लड़का यहाँ कहाँ है ? वह तो लाखों में एक है। यहाँ उसे कौन पढ़ाता ? बनारस में पढ़ता है। उसे देखना हो तो बनारस जाइए।”

“बनारस में कहाँ ?”

“अरे, मुरारि को वहाँ कौन नहीं जानता? लाखों में एक है! बनारस में जिससे भी पूछिएगा, बता देगा!”

“मुझे तो किसी ने नहीं बताया।”

“आपने बनारस का नाम सुना है?”

“वहीं तो रहता हूँ।”

“आप बनारस में रहते हैं? तब यहाँ क्या लेने आये?”

इस बीच उमानाथ जी चाँदी की तश्तरी में लड्डूनुमा कोई काला-काला गोला लिए आ गए। बेलवाले नाँद पर घास डालने चले गए।

जोखिम से यह सफ़र पूरा हुआ था। शेरघाटी से मैंगरा तो मैं पैदल ही जाता रहा हूँ, परन्तु वहाँ प्रकृति के हरित परिधान पर झिर-झिर फिसलती हवा होती थी, यहाँ भूभल में जलते जूते, आँख और नाक में घुसी आती गरम धूल।

गाँव भर में चीनी ढुँढ़वाने में हुए विलम्ब और घर के गुड़ में बने बदरंग हलवे की पवित्रता पर सुमधुर व्याख्यान सुनते-सुनते पल भर में पूरी पिण्डी निगल ली। लोहे के चने चवाने का अभ्यास है, चाँदी पचा सकने की शक्ति होती तो वह पुश्तैनी तश्तरी भी न बच पाती।

किस तृष्णा की काली रात पिता-श्री के निर्मल हृदय में उतर आई थी जो उनकी चेतना ने कृत्रिम सुखी, किन्तु अन्ततः इस विपन्न घर में अपनी कन्या देने का निर्णय ले लिया था? जैसे तेज धूप कीचड़ को सुखा देती है मुझे भी यह दुरन्त चिन्ता खाए जा रही थी। (बहुत दिनों बाद मुझे पिता-श्री के अन्तर्भाव का पता लगा था कि वह उमानाथ जी के पिता को चाँदी की कटोरियों से सन्ध्या-पूजा करते देखकर ही प्रभावित हुए थे। पिताजी के अर्घ्य-पञ्चपात्र आदि ताँबे के थे। मैंने उनको इस आकांक्षा से अवगत होने पर, जो पहली-पहली बार वेतन पाया, उससे पिताश्री की पूजा की कटोरियाँ चाँदी की ही बनवाकर रायगढ़ से पार्सल द्वारा भेज दी थीं। पिताश्री सन् ६३ में चले गए, कटोरियाँ अब भी हैं।)

साढ़े ग्यारह बजे रात में खाने का बुलावा आया। अब कहीं उनके असली घर-आँगन के दर्शन हुए। बरामदे में एक औरत (जो किसी जन्म की मेरी ही बहन-जैसी होगी) धान का भुस्स झोंक-झोंक कर रोटियाँ सेंक रही थी। थाली देखकर मन भिन्ना गया। अपनी सोमा

ऐसी एक रोटी के छह फुलके बनाती है।

अब लड़का देखने की क्या आवश्यकता थी ? मैंने झटपट निर्णय ले लिया। आकाशवाणी पहले ही बता चुकी थी। सवेरा होते-होते उल्टे पाँव स्टेशन लौट गया। अब वह जगह कहीं न दिखी।

मैं हारा-थका पथिक न था। चमत्कार ने रात भर मुझे चैन से सोने-पड़ने न दिया था। खुले दिन के उजाले में जो झुठला दिया गया था, वह रात के अँधेरे में थके-माँदे पर रहम करना नहीं जानता था। रह-रह कर आँखें खुल जाती थीं, वही मढ़ैया, वही गाछ। पंखा झलते-झलते कभी-कभार पलकें झपकती थीं। सुबह-सवेरे अपना रास्ता लेना था। “ओ माँ, ऐसे कैसे दर्शन दिए जो अब कुछ सुझाई ही नहीं दे रहा ? तूने मेरे प्रयत्न को सार्थकता नहीं दी। मेरे श्रम की कोई उपयोगिता न रही। अब यह कैसी यातना मेरी आकांक्षाओं के लिए तजवीज की है ? तू ज्ञानमयी है, यहाँ सब तुझे मेरी आँखों का भ्रम सिद्ध करने पर तुले हैं। मेरी अनुभूति सबके अनुभवों पर भारी पड़ रही है। रोचक प्रसंग अरुचिकर प्रतीत होते हैं मुझे भी। राह अजानी और अँधेरी है। अगल-बगल, आगे-पीछे आदमी तो हैं, मगर वे तेरे आदमी नहीं हैं। मैं अकेला हूँ माँ, तू अपना पथ दिखा दे ! तू ही मुझे लक्ष्य पर पहुँचा दे।”

स्टेशन पर रामप्यारे जी मिल गए। पटना लौट रहे थे, मैंने गया जाने वाली ट्रेन छोड़ दी। उन्हीं के साथ हो लिया। गया के ब्रजभूषण महाविद्यालय में पढ़ते थे, तभी से परिचय है। मेरी ही तरह मगही पान के शौकीन हैं। डब्बे में बैठते-बैठते पूछ बैठे : “भारतीय संस्कृति क्या है ? उसकी अपनी पहचान क्या होगी ? उसके आधारभूत तत्त्व कौन-से हो सकते हैं ?”

“आगे भारत में धर्म ही हुआ करता था, संस्कृति शब्द आधुनिक है। अंग्रेजी के ‘कल्चर’ शब्द का अनुवाद संस्कृति है, जैसे रेलिजन का अनुवाद धर्म; फ़िलासोफी का दर्शन; किन्तु ये अनुवाद ही अनुवाद हैं। कोई भी अनुवाद मूल अर्थ तक नहीं पहुँचता। व्यवहार में है। चलता है।

संस्कृत में वनस्पति और वृक्ष—दो अलग-अलग शब्द हैं। जो फूलते नहीं, फलते ही फलते हैं, उन्हें वनस्पति कहा जाता है और जो फूलते भी हैं, फलते भी हैं, उन्हें वृक्ष कहते हैं।

मेरा मन कहता है कि धर्म वनस्पति के समान है और संस्कृति वृक्ष के समान।

“धर्म में फूल-सी सुकुमारता सिरजने की शक्ति नहीं है। कठोर और रूखे तने में ठोस फल लगते हैं।

“संस्कृति में कलाओं के सुकुमार कुसुम भी खिलते हैं, सदाचार और सद्विचार के मधुर फल भी फलते हैं।

“धर्म का मूल सुदृढ़ होता है; संस्कृति का लता-प्रतान मन-मोहक।

“धर्म ललित नहीं है, लालित्य संस्कृति की देन है।

“राम धर्म हैं; कृष्ण सकल कलाओं की स्रोतस्विनी संस्कृति।”

रामप्यारे जी, जो तन्मय होकर मेरा चिन्तन चुग रहे थे; चाँके : “किन्तु कृष्ण ने तो ‘धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे’ कहा है। धर्म-स्थापना का दायित्व स्वेच्छा से अपने ही ऊपर ले लिया है?”

“राम ने कभी कोई दावा नहीं किया, मैंने कहा,—किन्तु धनुषबाण लेकर, निरन्तर सजग-सन्नद्ध रहकर अपने प्रत्येक आचरण से धर्म की ही स्थापना की है या नहीं ?

“कृष्ण ने कथक नर्तक की तरह पहले नृत्य के बोल सुनाए हैं फिर मृदंग की थाप पर नाच-नाच कर दिखा दिया है। धर्म नाच हो, न हो, बोल तो धर्म के ही थे।

“कृष्ण ने धर्म की स्थापना की या नहीं, गीता जाने; किन्तु धर्म को नचाया अवश्य है, भागवत से पूछ देखिए।”

रामप्यारे जी इस अप्रासङ्गिक विनोद से विचलित होते दिखे : “आप हिन्दू युनिवर्सिटी में पढ़ने के कारण नास्तिक होते जा रहे हैं। भगवान् की तुलना नर्तक से करते हैं। गोस्वामी जी के राम ने तो वैसे एक बात भी नहीं छोड़ी है जो गीता में श्री कृष्ण ने कही है।”

हास्य-विनोद करने-सहने का माद्दा कितना कम होता जा रहा है। मैंने तो भी छुरछुरी ही छोड़ी : “गोस्वामी जी ने विगत पाँच हजार वर्षों के क्रमशः विकसित होते हुए ज्ञान-विज्ञान का (इन्साइक्लोपीडिया) विश्वकोष बना दिया है अपने रामचरित मानस को। उसे पढ़ने पर

हज़ार-हज़ार वर्षों में एक-एक रेखा जोड़कर जिस तत्त्व ने एक-एक आकृति ग्रहण की होगी उसे वहाँ बिना डंठल के पूर्ण विकसित पुष्प के रूप में देखकर मुझे बचपन में पढ़े भोज प्रबन्ध की याद आ जाती है जिसमें कालिदास-माघ, दण्डी-बाण सब गपशप करते हैं। [यानी भिन्न-भिन्न समय और स्थान के सभी कवि इकट्ठे अच्छी-खासी चूहल करते हैं।] भले ही उनका ऐतिहासिक अन्तर शताब्दियों का हो।

“तो भी, मैंने तो भागवत के साक्ष्य में ‘बर्हिपीडं नटवरवपुः’ कृष्ण को नर्तक ही कहा है, गोस्वामी जी ने तो राम गुसाई की तुलना बन्दर नचाने वाले एक मामूली मदारी से कर डाली है। सबै नचावत...”

इस पर उनकी बत्तीसी चमक उठी और वह खूब खुलकर हँसे।

दानापुर आ गया था। गाड़ी यहाँ आधे घण्टे रुकी रहती है। चाय कैटीन से लपककर ले आए। पान बैठे-बैठे मिल गए।

“भारतीय संस्कृति वैदिक काल से पौराणिक काल तक धर्म से मर्यादित, शील से सुवासित और समकालीन सत्ता के समानान्तर विकसित होती रही है।”—मैंने कहा, “माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः की आर्ष कल्पना अनायास शब्दों में नहीं फूटपड़ी है। पृथ्वी को माँ मान लेने पर भाव में जो उदात्तता आई, उसी का परिणाम था, प्रत्येक प्रातः काल शय्या त्याग करते समय क्षमा माँग कर पृथ्वी पर पाँव रखना :

‘समुद्ररशने देवि, पर्वतस्तनमण्डले,

विष्णुपतिन नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे।

“ग्रीक सम्राट् सिकन्दर के आक्रमण के बाद इस भावना में संशोधन हो गया। अब वह ‘वीर-भोग्या वसुन्धरा’ हो गई। कालिदास ने इसी भाव को प्रचुर विस्तार दिया :

‘बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्।’

“शकुन्तला नाटक में दुष्यन्त शकुन्तला की सखियों से कहता है कि रानियों की कहाँ कमी है, मेरा विशाल अन्तःपुर भला कब भरा-भरा न रहा? किन्तु अब से मेरे कुल की प्रतिष्ठा बढ़ानेवाली दो ही होंगी : एक तो समुद्र की करधनी पहने हुए पृथ्वी और दूसरी तुम्हारी सखी शकुन्तला :

परिग्रह बहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे

समुद्ररशना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।

“राजा-महाराजा कहलाना और बात है, भूपति, पृथ्वीनाथ कहलाना और । यह भाव मध्य युग के अन्त तक खिंचता चला आया । पुराणों में विष्णु पुराण सबसे पुराना है । उसमें ऋषियों ने जो भारत की महिमा गाई है, वह फिर कभी न दुहराई गई :—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः पुरस्तात् ॥
कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिन्नलये ये त्वमलाः प्रयान्ति ।

“देवते भी यही गाते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में एक अकेला भारत ही है जिसमें जन्म लेने वाले के लिए स्वर्ग और मुक्ति के द्वार सदा खुले होते हैं । [यह और है कि हजार बार जन्म लेने के बाद कहीं कभी किसी जीव को किन्हीं पुण्यों के प्रताप से भारत में मनुष्य रूप में जन्म ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त होता है ।]

“भारत ही एकमात्र कर्म-भूमि है और सारा संसार भोग-भूमि है । अर्थात् जिसके प्रारब्ध में जो है उसे चुपचाप भोगते रहना ही विश्व-प्राणियों की नियति है । बस एक भारत है जहाँ निष्काम कर्म करने की सुविधा है । सारी कामनाएँ प्रभु के चरणों में अर्पित कर मनुष्य-जन्म को सार्थक करने वाले यहीं के मनुष्य निर्मल होकर अनन्त में विलीन हो जाते हैं । यह सौभाग्य भारत में जन्म लेनेवाले पवित्रात्मा मनुष्यों को ही प्राप्त है, हम देवता कहे जाने वालों को भी नहीं ।

जानीम नैतत् क्व वयं विलीने
स्वर्गप्रदे कर्मणि देह-बन्धम्
प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्या
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ।

देवते शीखते हैं कि अभी तो हम किन्हीं पिछले पुण्यों की बदौलत स्वर्ग में विराज रहे हैं किन्तु एक न एक दिन यह पुण्य-लोक हम से छिन जायगा । संचित पुण्य के छीजते ही हमें धरती के किसी भाग में जन्म लेना पड़ेगा । ऐसे में हम तो यही कहेंगे कि धन्य हैं भारत में जन्म लेने वाले जिनकी स्वस्थ इंद्रियाँ मनचीते ऊँचे कर्म, बिना फल के लोभ के, करने के लिए सदा स्वतन्त्र हैं ।

“इसी भारत के लिए धर्म-गुरु मनु ने कहा :—

एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

“पूरी पृथ्वी पर वसे हुए सब मनुष्यों को सदाचार की शिक्षा देनेवाले उसी देश पर जब ग्रीक, शक, हूण, लिच्छवी चढ़ आए तब उसकी आध्यात्मिक ऊँचाई ढहने लगी और यवनों, हूणों, म्लेच्छों के साहचर्य में भारतीय संस्कृति में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मिश्रण होने लगा। अब भारत प्राचीन ऋषि-मुनियों का तपःपूत भारत न रहा, भिन्न-भिन्न धर्मों में देश-काल के अनुसार समन्वय ढूँढ़कर जीवन-यात्रा के लिए एक लम्बे-चौड़े राज-मार्ग के निर्माण में जुट गया। आज दिन व्रत-त्योहार ही नहीं, विभिन्न कलाएँ भी उसी प्राचीन संस्कृति की सजल स्मृति मात्र हैं।

“संस्कृति को एक प्रक्रिया मानना उचित होगा, जिससे गुज़र कर सर्वसाधारण का व्यक्तित्व गठित होता है। ऐसे व्यक्तित्व को गठित होने पर, जैसे जन्मे उससे बहुत आगे बढ़कर, जीवन और जगत् को अपनाने की विशद दृष्टि प्राप्त होती है। वैदिक संस्कृति से हटकर बौद्ध संस्कृति का विकास हुआ था; किन्तु उसे विशुद्ध भारतीय संस्कृति इसी लिए कहना उचित है, क्योंकि वह नीति और सदाचार पर ही टिकी हुई है और सर्वोपरि सत्य यह है कि वह भी आध्यात्मिक है। मिश्रण बाहर से आए धर्मों, दर्शनों, सभ्यताओं और संस्कृतियों का हुआ जो भौतिकवाद के आग्रही हैं।”

रामप्यारे जी जैसे किसी बोझिल-सी वस्तु की चोट खाकर लुढ़क गये हों, सँभलकर हड़बड़ाए-से बोले : “जानकीवल्लभ जी, यह सभ्यता और संस्कृति क्या दो है?”

“हाँ, नहीं,”

“अर्थात् ?”

“कुछ लोग दोनों को एक मानते हैं, कुछ भेद-भाव बरतते हैं।

“भेद मानने वाले भी दो तरह के हैं। एक, संस्कृति के एक अवयव-विशेष को सभ्यता कहते हैं, दूसरे का कहना है कि जब सभ्यता ने मनुष्य को दैनन्दिन जीवन की प्राथमिक अनिवार्य आवश्यकताओं से मुक्ति दे दी तब संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। सभ्यता बाह्य विकास

और संस्कृति आन्तर प्रकाश है। सभ्यता यान्त्रिकता के सहारे पनपती है, संस्कृति मूलभूत आदर्शों की जननी है। कहना न होगा, यान्त्रिक उन्नति सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए आवश्यक और अनिवार्य नहीं है। एक शब्द में सभ्यता संस्कृति की सहयोगिनी नहीं है।”

पटना जंक्शन पर गाड़ी रुकी तो वह माथे और कनपटियों से बह कर आने वाला पसीना पोंछते हुए झटपट उतर गये। मस्तिष्क से सुस्पष्ट फूटती चिनगारियाँ भी बेपनाह पसीने की वज्रह हो सकती थी। कहीं मैं उन्हीं के साथ उतर पड़ा और साथ हो लिया तो ?

बाहरियों को घर में लिए-दिए चले जाने पर पर्दे की कठोरता के कारण घरवालियों को विशेष असुविधा होती है। पुरुषों की मैत्री अपनी जगह है, पेटी-बक्सों की तरह घर में बन्द स्त्रियों के लिए स्वागत-सत्कार, किसी अनामन्त्रित अतिथि का अप्रत्याशित आगमन, साँसत में प्राण पड़ने के पूर्व-सूचक होते हैं। फिर भी कोई कंजर बंजर में तो नहीं रह सकता ! होटल में ठहरने के लिए पैसे चाहिए। पैसे कैसे होते हैं किसी की जेब में ? माँदा-माँदा-सा ओने-कोने थमा रहा, भीड़ छँटने तक।

भूरी-भूरी धूप बादल-दल में आधे छिपे, आधे दिपे रूप की धरती पर यहाँ-वहाँ पसरी थी। मैं भी सीढ़ियाँ चढ़-उतर कर बाहर गेट पर पहुँचा तो देखता का देखता रह गया। राम प्यारे जी रिक्शा लेकर मेरा इन्तज़ार कर रहे थे। मैंने तुलसी दास जी की भाषा में हृदय खोला ?

‘कलि कर एक पुनीत प्रतापा
मानस पुन्य होहि, नहि पापा !’

उन्होंने चौंक कर पूछा : “ऐसी क्या बात हो गई ?”

मैं हँसा : “बात हुई कहाँ ? होते-होते रह गई ! आप चुपचाप चलते बने तो सोचा, अनामन्त्रित अतिथि के भय से भाग गए !”

“ओह ! तो वह बात है !” वह बोले : “मैं तो पहले इसलिए आ गया कि एक तो आप बहुत धीरे-धीरे चलते हैं ! भारी भीड़ उतर रही थी। सारे रिक्शे निकल जाते !

“दूसरे, आप साथ-साथ आते तो, मैं आपके स्वभाव से परिचित हूँ न, मुझे पैसे नहीं देने देते। इस बीच मैं रिक्शे वाले को भी पैसे दे चुका, पिंटू होटल को भी; बिलकुल बगल में है, पहले चलकर रसगुल्लों से मुँह मीठा करें, फिर आपके कार्यक्रम पर विचार होगा !”

शान्ताराम का एक चित्र देखा था। पति-पत्नी मिल-जुल कर फूल की तरह गृहस्थी का बोझ उठाए हुए थे। घर का छोटे-से-छोटा काम भी दोनों मिलकर ही करते थे। पति बरतन माँज रहा था, पत्नी पानी भर रही थी। ऐसे में पति ने हँसकर पूछा ‘क्यों री, ये आजकल के लड़के-लड़कियाँ प्रेम-प्रेम की क्या रट लगाए रहते हैं? आखिर यह प्रेम हमारा क्या होता है?’

उस दिन यह प्रेम-दृश्य देखकर मेरी आँखें छलछला आई थीं। वाकई आज कौन किससे प्रेम करता है? दुहाई देना बेशक सबने सीख लिया है। हाय रे; हम जो कभी नहीं करते, उसी की मुखर चर्चा में आधी उमर बिता देते हैं?

आप भारतीय संस्कृति में उसी दम्पति के समान अज्ञात भाव से रसे बसे हैं, बस, मन बहलाने के लिए ही मुझसे उसकी चर्चा करते हैं!

जलपान के बाद चाय, फिर पान और तब घर चलने का आग्रह। मैं बच्चों के लिए फल-मिठाइयाँ खरीदने लगा तो बोले: “यहाँ कोई नहीं है। होने पर आपको होटल में क्यों लाता? हम सीधे डेरा चले चलते।”

मैं अब और न रुक सका। झटपट बोल उठा: “पञ्चतन्त्र में पढ़ा था: एक सियार ने गधे को मना किया: गाना-बाना मत गाना; रेंकता है, रेंका कर।

इस पर गधा तिनक गया:

‘वे, क्या बकता है? मैं क्या गाना नहीं जानता? तो ले, सुन, मैं उसका सारा रहस्य ही खोले देता हूँ: सात स्वर होते हैं, तीन ग्राम और इक्कीस मूर्च्छनाएँ, उनचास तानें और बस, यही स्वर-मण्डल कहलाता है।’

भभुआ रोड स्टेशन पर मेरी जेब कट गई थी। मैं अभी बच्चों के लिए पाँच रुपए ही खरच सकता था। ईश्वर ने पञ्चतन्त्र का गवैया होने से बचा लिया। रात भर आपके साथ और रहूँगा। तड़के गया

जानेवाली पहली गाड़ी से रवाना हो जाऊँगा।”

रामप्यारे जी प्रियदर्शी, प्रियंवद और व्यवहारकुशल व्यक्ति भी हैं। पीक थूक कर हँसे ठठाकर :

‘यह तो आपका अपना बनाया कार्यक्रम हुआ। मैं ऐसा करता हूँ कि थोड़ी देर के लिए आपसे छुट्टी लेकर स्कूल को खबर किए देता हूँ। भारतेन्दु-परिषद् के अन्तर्गत कल एक छोटी-मोटी गोष्ठी आयोजित हो जायेगी। सबको आपका भाषण और काव्य-पाठ सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाएगा और भरसक आपकी कटी जेब भी सिल जायगी।”

विद्या का यह वाणिज्य पर्याप्त उत्साहवर्द्धक था। मैं हँसा। अर्थ-प्राप्ति के छह उपाय चाणक्य ने बतलाए हैं : १—भीख माँगना (भिक्षु होने पर यह निन्दा के योग्य नहीं रह जाता है। मोटे-मुस्टंडे के लिए तो निन्दनीय है ही।) २—राजा की सेवा, (की थी मैंने, आत्मा को बेचे बिना इसमें सिद्धि नहीं मिलती। खुशामदी बातें करने से जब तक जीभ नहीं जल जाती, अर्थ का मधु तब तक नहीं टपकता।) ३—खेती, (बैलों से भाईचारा सध सके तो इससे अच्छा कुछ नहीं।) ४—विद्योपार्जन, (विद्या से सीधे धन नहीं मिलता क्योंकि ‘विद्या ददाति विनयम्।’ विद्या विनीत बनाती है। ऊँच-नीच सहने की शक्ति देती है। बड़े बोल सुनकर तिलमिलाए नहीं कि काम बिगड़ा। बेंत की तरह विनम्र हो गए तो समझो; पात्रता आ गई। भली-भाँति पात्रता आ जाने पर तब कहीं धन की बारी आती है। यात्रा लम्बी है। विरले ही धन तक पहुँच पाते हैं। यों बड़े-बुजुर्ग कह गए हैं, सन्तोष से बड़ा कोई धन नहीं है।) ५—व्यवहार, जैसे सूद पर रुपए लगाए। अन्धा-धुन्ध सूद से मूल कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। चक्र-वृद्धि ब्याज कितनों को तो ताज पहना देता है, कोई-कोई आया राम, गया राम भी हो जाते हैं।) ६—वाणिज्य, (एक दफ़ा बनिया हो गए, तो फिर पौ बारह ! यह रुपए में तीन अठन्नियों वाला मूर्ख ज़माना नहीं है जो अर्थ के रास्ते में कोई अनर्थ हो।)

चाणक्य ने इस छठे उपाय (वाणिज्य) की ही भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अब अपने महान पूर्वज की बात काटने का साहस मुझमें तो नहीं है। मैं विनम्र भले न होऊँ, बेअदब हर्गिज नहीं हूँ।

मेरी हँसी का अर्थ रामप्यारे जी फटाफट बूझ गए ।

कटहल और ओल (सूरन/जमींकन्द) की तरकारी, बड़ी-पकौड़ियाँ, दहीबड़े, अदौरी-तिलौरी-पापड़, भजिया-जैसी चीजें मुझे सदा से प्रिय हैं। वगैर मिर्च-मसाले की उबाली हुई सब्जियाँ फूटी आँख नहीं सुहातीं। सलाद बेशक पसंद है—गाजर, मूली, टमाटर, धनियाँ की पत्तियाँ, अदरक। रामप्यारे जी को सब मालूम है। मैंने गीता सुना दी थी :

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

सुना है, बाइबिल में कनफेशन (पाप-स्वीकृति) की बड़ी बड़ाई है। जमकर पाप करो; फिर क्या; एक बार दयालु यीशू के सामने सहज भाव से स्वीकार कर लो, मुक्ति तुम्हारे हाथ है।

अब कोई पाप ही न करे तो वह कनफेशन काहे का करेगा, और फिर उसे मुक्ति क्योंकर मिलेगी ?

कड़वे, खट्टे, नमकीन, जीभ जलाने भर गरम, तीखे और जलन पैदा करने वाले पदार्थ न खाए जाएँ तो सारे औषधालय, क्लिनिक, डिस्पेंसरियाँ बन्द कराने के अपराध अपने सिर-माथे लेने पड़ेंगे या नहीं ?

वैद्य-डाक्टर तो ये चीजें इसलिए नहीं खाते हैं कि उनका इलाज कौन करेगा ? क्लब में साथ-साथ पीना-खाना एक बात है। यों सब एक-दूसरे को मार कर अपना मार्केट-वैल्यू बढ़ाना न चाहेंगे ? फिर उन्हें वे पदार्थ आसानी से पचने वाले भी नहीं हैं। जबरन रोके गए मुझ-जैसे मरीजों की नज़र जो उन पर लगी होती है ! कोई नज़र लगने पर भी पचा डाले, ऐसा कहीं देखा-सुना न गया।

रामप्यारे जी बोले ज़रूर थे कि ठोंके खाएंगे; मगर जब वे लौटे तो उनके साथ दो जने और थे। एक ओल को छोड़कर सारा का सारा सामान कहीं पड़ोस से बनवा लाए थे। छक कर खाना हुआ।

मैंने कहा : ऐसा घनघोर आतिथ्य भारतीय संस्कृति के अलावा और कहीं सम्भव नहीं है।

भूखे भजन न होय गुपाला,

ले लो अपनी कण्ठी-माला !

—यही भारतीय संस्कृति का निचोड़ है।

यों भी, देश भुखमरी में पड़ा हो तो अनाज की कीमत सौगुनी बढ़ा देना भारतीय संस्कृति है।

ट्रेन-दुर्घटना होने पर मरे हुएों का सारा सामान लेकर चम्पत हो जाना; पुलिस की मदद से अधमरों को मार कर उनकी घड़ी-पर्स, पेटी, बटुआ गायब कर देना; मवेशियों का चारा-पानी मँहगे दामों नीलाम-कर चमड़े के उद्योग को बढ़ावा देना विश्वविख्यात भारतीय संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति के बहुरूपियेपन का क्या कहना, उसकी कोई निश्चित और निर्धारित रूप-रेखा नहीं है। हाँ, एक बात दावे के साथ कही जा सकती है कि ऐसा कुछ भी अकार्य, जघन्य, कुत्सित और कुरूप नहीं है जिसे भारतीय संस्कृति ने आत्मसात् न कर लिया हो !

प्राचीनतम भारत के ऋषि-मुनियों की उच्च-उदात्त आध्यात्मिक संस्कृति पर सोते समय चर्चा करूँगा, नानी की कहानी कहने-सुनने का वही शान्त-सुखद, सहज, सुलभ, समीचीन समय होता है।

फसल बढ़-बढ़ कर छाती से भी एक बालिशत ऊँची खड़ी हो जाती है तो मेंडें नहीं दिखाई देती; पगडंडियों का अता-पता नहीं मिलता। हमारे रहन-सहन की दिशाहीन विविधताओं में भारतीय संस्कृति कहाँ सोई पड़ी है, किसी ने भी उसे जगाने का प्रयत्न नहीं किया जान पड़ता है। सामान्य को ढूँढ़ निकालना सम्भव न हुआ तो लगभग सबने एक और विशेष की सृष्टि कर डाली है। चार वेद, छह दर्शन,—बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती, द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत—जैसे कितने ही उपभेदों की भरमार है। किसके साक्ष्य में कोई एक निर्णय लिया जाए? ऐसे में दूसरों की कही-सुनी बातें दुहरा देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।

देश-विदेश के पुरातत्त्वविदों ने यह तो सुदृढ़ स्वर में स्थापित कर दिया है कि भारतीय संस्कृति संसार की सबसे पुरानी संस्कृति है। इसके साथ ही इतिहास ने यह भी खोल कर दरसा दिया है कि यह पुरानी ही नहीं, टिकाऊ भी बेजोड़ है। एक समय रोम और

यूनान की संस्कृतियाँ सारे विश्व पर छाई हुई थीं परन्तु आज उनका कहीं नाम-निशान भी नहीं है। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति है जिसे झंझावातों और वात्याचक्रों ने कितनी ही बार झकझोर कर आजमा लिया है, इसकी जड़ गहरे, और गहरे चलती चली गई है जहाँ आग और हवा की कतई पहुँच नहीं है।

यह युग नई-पुरानी संस्कृतियों के संघर्ष का है। पुरानी संस्कृति को अनावश्यक बतानेवाले डंके की चोट ऐलान करते हैं कि अब सब संस्कृतियों को मिलाकर एक नई संस्कृति गढ़ने की आवश्यकता है। इस ऐसी नई संस्कृति में और जो कुछ भी होगा, भारतीय संस्कृति की-जैसी गहराई हर्गिज न होगी; टिकाऊपन (हज़ारों वर्षों तक बने रहने की क्षमता) कदापि न होगा।

भारतीय संस्कृति का गगनचुम्बी प्रासाद अध्यात्म की बेहद गहरी नींव पर खड़ा है। त्यागपूर्वक भोग—‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा’,—उसका आचार, और ‘येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्’—जो जीवन को अमरता न दे, उसे लेकर क्या करना—यही विचार है।

‘तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये !

आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्प-कौशलम् ।’

जो बन्धन में न डाले वह कर्म है; जो मुक्ति प्रदान करे, वही विद्या है।

दुनिया के और सारे काम-काज उबाने-थकाने-वाले हैं; और सारी विद्याएँ कमाने-खाने के लिए सीखे हुए हुनर भर हैं।

रामप्यारेजी हूँसे : गीता में अर्जुन ने पूछा था :

“किं तद्ब्रह्म ? किमध्यात्मम् ?”

मैंने कहा : आप बेशक अर्जुन (गोरे-चिट्टे) हैं, इसमें दो मत नहीं, मगर मैं जो हूँ उसमें दो क्या, कई मत हैं। मैं न काला हूँ, न गोरा—मगर यह एक मत है। जानकीवल्लभ हूँ, कृष्ण नहीं हो सकता,—यह दूसरा मत है। न राम, न कृष्ण, न काला, न गोरा,—मैं कुछ नहीं हूँ, नकली नाम, नकली काम,—सब झोल ही झोल है,—यह तीसरा और असली मत है। मैं इसे ही सही मानता हूँ, क्योंकि यह घिसा-पिटा नहीं, ताज़ा है; गया-गुजरा नहीं, प्रासङ्गिक है।

कृष्ण ने कहा था : ‘अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।’

परम ब्रह्म अक्षर है। और उसके स्व-भाव, स्वरूप जीवात्मा को अध्यात्म कहा जाता है। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी ज्ञानेश्वरी में इसे खूब स्पष्ट कर दिया है कि जो इन छिद्रों भरी देह में ओत-प्रोत है, भरा हुआ है, वह कभी चू कर, छलक कर, गिर कर नष्ट नहीं होता। वह 'अक्षर' है। वह इतना सूक्ष्म है कि शून्य-जैसा जान पड़ता है। परन्तु वैसा है नहीं। वह एक ऐसा सूक्ष्म-तत्त्व है जो भौतिक ज्ञान की झोली में झरता नहीं है, वही परब्रह्म है। वह एक ऐसा अद्भुत तत्त्व है कि शरीर भी धारण कर ले तो उसमें शरीर के विकार नहीं आते और यदि वह शरीर नष्ट हो भी जाय तो उसका नाश नहीं होता। इसीलिए उसे 'अक्षर' कहा है। वह न रिसता है, न छीजता है, तभी अक्षर है।

और उसके अपने ही स्वरूप (जीवात्मा) में जो उसकी (ब्रह्म की) निरन्तर स्थिति होती है, उसे ही अध्यात्म नाम से पुकारा जाता है।

आप पूछ सकते हैं कि आज ऐसे अध्यात्म की उपादेयता क्या है? और यह भी कि वही भारतीय संस्कृति का मूल किस प्रकार है?

वस्तुतः भारतीय विचार-धारा में पञ्चभौतिक से पृथक् नित्य एक आत्मा की सत्ता समादृत रही है। शरीर तो गतिशील है सभ्यता की तरह; किन्तु आत्मा सत्य शाश्वत है संस्कृति की तरह।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जैसे पौष्टिक आहार-विहार की आवश्यकता होती है, वैसे ही उन्नत बनानेवाले शुद्ध आचरण की आवश्यकता होती है आत्मा को जिसे हम धर्म या संस्कृति कहते हैं।

धर्म शब्द का सम्बन्ध आचरण से ही अधिक है, मुक्ति तो उसका आनुषङ्गिक फल है।

यहाँ यह सब प्रश्न निरर्थक हैं कि धर्म की उत्पत्ति किन स्थितियों में हुई और अब उसका क्या प्रयोजन है?

अध्यात्म का अनुसन्धान परमहंस श्री राम कृष्ण देव अथवा महर्षि रामानन्द जैसे पूर्ण विकसित आधारों के आध्यात्मिक अनुभवों से करना उचित है, अपेक्षाकृत अल्पविकसितों अथवा अविकसितों को आधार मानने पर पौराणिक विश्वासों की शरण लेनी होगी; चमत्कारों को आध्यात्मिक उपलब्धि समझने की भूल करनी होगी।

महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण स्पष्ट शब्दों में बताया है :
'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः'। अर्थात् जिससे भौतिक उन्नति
के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति (मुक्ति) की प्राप्ति हो, वही धर्म है।

विश्व का विकास विविध रूपों में होता दिखाई देता है। भारतीय
संस्कृति कहती है : यह जानते-अनजानते आत्मा का ही चमत्कार है,
जो बुद्धि को लक्ष्य पर सुनियोजित करती है; मन को ऊर्ध्वगामी होने
की प्रेरणा देती है ! अध्यात्म-मूलक भारतीय संस्कृति का यही
अर्थ है।

पिता श्री बाल्यकाल में भी मुझसे कहा करते थे। जब मैंने स्वयं
महाभारत का उद्योगपर्व पढ़ा, तब जाना, विदुर के वाक्य थे वे
सब :—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः
नित्यो धर्मः सुख-दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतु रस्य त्वनित्यः।

किसी भी कामना के चक्कर में पड़ कर धर्म नहीं छोड़ना
चाहिए। न किसी से डर कर, न किसी लालच में ही पड़ कर, न ही
जान बचाने का बहाना बना कर। क्योंकि सुख-दुख के पलड़े तो ऊँचे-
नीचे आते-जाते रहते हैं, बराबर एक समान रहने वाला है धर्म। ऐसे
ही जीवात्मा तो नित्य है, उसका कारण-शरीर अवश्य नाशवान् है :
बराबर अदलता-बदलता रहता है।

त्यक्त्वाऽनित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्यं
सन्तुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः।

ऐसे में उस नाशवान की चिन्ता छोड़ कर आत्मा की नित्यता में
ही आस्थावान् होना उचित है। सन्तोष से बड़ा कोई लाभ नहीं है,
इसलिए सन्तुष्ट रहने का अभ्यास करो। 'सन्तुष्टो येन केनचित्।'

भारतीय संस्कृति का यही प्राण है। कालिदास की शकुन्तला का
चौथा अङ्क भारतीयता का निर्मल दर्पण है। रघुवंशियों का चरित्र
आँकने के बहाने भी कालिदास ने रघुवंश के आरम्भ में भारतीय आत्मा
को ही सांस्कृतिक आकृति दे दी है। त्यागपूर्वक भोग—'तेन त्यक्तेन

‘भुञ्जीथा’—ही भारतीय संस्कृति का प्रणव स्वर है।”

—रामप्यारेजी ने मेरी नीयत तुरन्त ताड़ ली। ताबड़तोड़ जमुहाई उन्हें सम्भावना को समझ लेने की दूरदर्शिता दे रही थी। मगर वह नहीं चाह रहे थे कि तारों-भरा आकाश निस्तब्ध सागर में सो जाए ! बोले :

“मुझे कुछ और सलाह-मशविरे करने थे, किसके सहारे गुजारें यह उनींदा अवकाश ? आप तो शायद सोना चाहेंगे।”

‘अरे नहीं’—मैंने कहा—‘मैं तो लेखक हूँ, आप लोगों के सम्पर्क से ही अपने लिए कुछ चुनना चाहता हूँ। सन्धान मेरा स्वभाव है : सोता भी हूँ तो जागरण के क्षण को कुछ नए अनुभवों से समृद्ध करने के लिए ही। आप निःसङ्कोच कहें। उमड़ते सैलाब में तैरना मुझे अच्छा लगता है।

बोले : कभी कोई पूछ बैठता है तो ठीक-ठीक जवाब देना मुश्किल हो जाता है। आप संक्षेप में मुझे गीतिकाव्य के बारे में बताइए।

मैं पहले यह कहकर गीतिकाव्य के विषय में कुछ बोलना चाहूँगा कि अब उसका युग बीत गया-सा प्रतीत होता है। उस स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के प्रकार पर बराबर व्यङ्ग्य-बोछार हो रही है।

आधुनिक प्रवक्ता साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकारते और गीतिकाव्य का विषय व्यक्तित्व की ही सार्वभौम अभिव्यक्ति है, ऐसे कवि-व्यक्तित्व की, जो स्वतन्त्र चिन्तन के धरातल पर अपनी भावना, कल्पना और अनुभूति को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करने की सामर्थ्य रखता हो ! अवश्य इसका यह अर्थ नहीं कि शेली-जैसे क्रान्तिकारी कवि का काव्य मानक गीतिकाव्य नहीं है। न ही इसका यह अर्थ है कि समाज, राजनीति और समकालीन परिस्थितियों से गीति-कविता प्रेरित-प्रभावित नहीं होती, वह निरा वैयक्तिक उद्गार है; अतिरञ्जित, किन्तु सरस प्रलाप है ! नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है।

फिर भी वह जो कुछ है, वह उन तमाम बाह्य स्थितियों, बाहरी सरोकारों से कुछ हटकर है। प्रकारान्तर से पड़ने वाले प्रभाव की बात और है। चाँद की चाँदनी पीते समय कोई यह नहीं सोचता

कि चाँद सूरज की रोशनी से रोशन है। यदि दास-प्रथा, सामन्त शाही या पूँजीवाद का प्रभाव आड़े-तिरछे पड़े तो इससे कवि-व्यक्तित्व समृद्ध ही हो जो गीति-तत्त्व में विविधता और निखार का कारण बने ! परन्तु लेनिन व्यक्तिवादी को ललकार कर कहते हैं कि “उसकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता की बात सरासर पाखण्ड है ! जो समाज अर्थशक्ति से सञ्चालित है और जिसमें बहुत बड़ी संख्या कंगालों की है और महज मुट्ठी भर अमीर हैं जो मुफ्त की रोटी उड़ाते हैं, उसमें निरपेक्ष स्वतन्त्रता कवि-कलाकार के लिए सम्भव है क्या ? नहीं, यह केवल पूँजीवादी वाग्जाल मात्र है।”

अब कौन लेनिन से यह पूछने का साहस करेगा कि खाद की सड़ायन्ध का प्रभाव गुलाब पर पड़ता है क्या ? श्मशान में चाँदनी उतरती है या नहीं ? उजड़े वन-बाग में कोयल कूकती है या नहीं ? सच तो यह है कि उनका साहित्य अभी बहुत ही थोड़े दिनों का है, जबकि ऋग्वेद संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ है। ऋग्वेद के साक्षात्कर्ताओं को पूँजीपतिवर्ग का आश्रय प्राप्त था, इसे प्रमाणित करना आसान नहीं है।

मैं कहना चाहता हूँ कि यदि छन्दोमयी दिव्य रचना होने के कारण ऋग्वेद को काव्य की कोटि में लाना गुरुतर अपराध न हो तो ऋग्वेद गीतिकाव्य ही है।

आदिम साम्यवाद के सर्वप्रथम प्रयोक्ता पर भी यही आरोप हो कि वह वर्ग-विभक्त समाज की ही उपज है, गजब है। ऋग्वेद से ‘राम-चरित-मानस’ तक का भारतीय साहित्य वर्ण और वर्ग में विभक्त समाज के ही अनुभव, चिन्तन और कल्पना का तो वैभव-विस्तार है ! समाज से कट कर नहीं, उससे समादृत और पूजित होकर ही यहाँ का महान साहित्य निर्मित हुआ है।

कवीर भी, जो विख्यात क्रान्तिकारी हैं, हिन्दू-मुसलिम के कठमुल्लेपन पर ही प्रहार करते हैं, भौतिक स्तर पर वर्गहीनता की बात नहीं करते। और अपने अत्यन्त संयत किन्तु प्रखरतर व्यक्तित्व को देवताओं और ऋषियों की कथित ऊँचाई के भी ऊपर स्थापित करते हैं —

‘वा चुनरी सुर-नर-मुनि ओढ़ी
ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया

दास कबीर जतन तें ओढ़ी,
ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ।'

गीतिकाव्य में व्यक्तित्व की ऐसी ही आरपार दिख जाने वाली अभिव्यक्ति अभीष्ट है। सूर-तुलसी के सारे भजन इसी कारण गीतिकाव्य के अन्यतम निदर्शन हैं।

‘मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई !’

जैसे पदों में व्यक्तित्व की मुखरता चुपा दी जाए तो वह निरा गद्यात्मक पद्य ही कहा जाए !

कुछ खीझे-से बोले : आप घुमा-फिरा कर शायद यह कहना चाहते हैं कि गीतिकाव्य व्यक्तिवादी होता है, समाजवादी नहीं ?

‘हाँ, आपने यथार्थ समझा है। सामान्यतः काव्य के दो भेद होते हैं—(Personal or subjective) आत्मनिष्ठ और (Impersonal or objective) वस्तुनिष्ठ। गीतिकाव्य (Poetry of self delineation) आत्मनिष्ठ होता है और प्रबन्ध (Poetry of representation or creation) वस्तुनिष्ठ। यों ‘रामचरित मानस’ से ‘मेघनाद-वध’ तक ऐसा एक भी प्रबन्ध-काव्य मेरे देखने में नहीं आया जिसमें इन दोनों के सम्मिलित तत्त्व (elements, properties) न हों !

गीतिकाव्य Lyric poetry के वजन पर गढ़ा हुआ शब्द जान पड़ता है। गीतिकाव्य भारतीय साहित्य में भरा पड़ा है, अवश्य यह नाम यहाँ के आचार्यों द्वारा नहीं दिया गया है।

सहजता और सरलता के कारण गीति-काव्य के वैविध्यपूर्ण विस्तार-प्रस्तार को दायरों में बाँधना कठिन है क्योंकि यह अनुभूति के लगभग सभी अवयवों को छूता है। अवश्य ये अनुभव सामान्य मानवीय अनुभूति से कटे नहीं होते। दूसरे शब्दों में, इनमें व्यक्तिगत संकीर्णता नहीं होती। और तब, प्रेम और विरह, आशा और निराशा, मिलन और प्रतीक्षा, सुख और दुःख—सभी गीतिकाव्य के विषय हो सकते हैं। देशभक्ति और धार्मिक भावना और ऐसे ही दूसरे भाव भी इसके अन्तर्गत देखे जा सकते हैं।

गीतिकाव्य का मूल्याङ्कन करते समय कुछ आवश्यक बातें ध्यान में रखना आवश्यक होता है। सबसे पहले भाव-भावना के

उस स्वरूप और स्तर की परख जरूरी है जो गीति-तत्त्व को अनुप्राणित करते हैं, फिर उस शैली का अनुशीलन आवश्यक होता है जिसमें भाव पिरोए जाते हैं। क्योंकि एक अच्छे गीतिकाव्य के लिए यह आवश्यक है कि वह सम्यक् अनुभूति की सम्यक् अभिव्यक्ति से सहृदयों को अभिभूत कर ले।

गीतिकाव्य की भाषा और अलङ्करण सरल और सुन्दर हों, यही पर्याप्त नहीं होता, उसमें वस्तु की अनुरूपता अधिक आवश्यक है—

‘यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषण-वाहनम्
तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ।’

वाली अन्विति अपेक्षित है। विषय के अनुरूप भाषा,—अनुभूति के स्तर की अभिव्यक्ति के अभाव में गीतिकाव्य में कलात्मक पूर्णता नहीं आ सकती।

‘कन्दर्प अगणित अमित छवि
नव नील नीरद सुन्दरम्
पट पीत मानहु तडित रुचि शुचि,
नौमि जनक सुतावरम्।’

के स्तर की वस्तु और अलङ्कृति—

‘दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।’ के स्वर की-सी सादगी नहीं सह सकती।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ‘दिन जल्दी-जल्दी ढलता है’—गीतिकाव्य नहीं, कुछ और है। नहीं, वह यदि कुछ भी है तो फिर गीतिकाव्य ही है।

आधुनिक हिन्दी कविता में निराला के लिरिक अपना सानी नहीं रखते। जब भी वह हल्के-फुल्के नहीं; उनकी कोटि जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास के गीतों की है; भाव-सम्पदा और ध्वनि-रणित बहुविध अभिव्यक्ति उनकी-सी विश्व-साहित्य में विरल है।

किसी एक ही मनःस्थिति, एक ही अनुभूति की सरल या सघन अभिव्यक्ति गीति-काव्य का लक्ष्य होती है। संक्षिप्तता उसकी केन्द्रीय

भावना में तीव्रता लाती है। इतना ही नहीं, अतिरिक्त आवृत्ति तथा अवाञ्छित विस्तार से उसके प्रभाव में मन्दता या कमी भी आ जाती है।

यहाँ इस सन्दर्भ में निराला का एक गीत याद आ रहा है,

अस्ताचल रवि, जल छल-छल छवि,
स्तब्ध विश्व, कवि-जीवन उन्मन;
मन्द पवन बहती सुधि रह-रह,
परिमल की कह कथा पुरातन।

इस एक ही उदास सान्ध्यचित्र में कवि के जीवन के सारे कर्म-संकुल दिन अथक थकन घोले दे रहे हैं। कवि की कठोर साधना मानव-मन को कितना संवेदित कर सकी, कहना कठिन है; किन्तु प्रकृति के विराट पट पर उसकी धुँधली उदासी विविध रूप-रंग-रेखाओं में फैल गई है। क्योंकि उसकी अन्तर्वेदना मूक प्रकृति से अविदित नहीं है। उन्मुक्त प्रकृति मन के क्षेत्र और चेतना की परिधि को अति विस्तृत कर देती है। कवि इस व्याप्ति और समग्रता को अपनी ही Personality के माध्यम से मार्मिक अभिव्यक्ति देता है, अवश्य उसका व्यक्तित्व Individual (वैयक्तिक) और Particular (विशेष) नहीं है। वह सामान्य और मानवीय है। जिस कारण उसका प्रत्येक पाठक उसमें अपनी ही भावनाओं और अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब पाता और अपने को उन भावनाओं और अनुभूतियों का भागीदार भी पाता है।

कवि नदी-किनारे बैठा है। शाम होने को है। सूरज अस्ताचल पर पहुँच गया है। कल-कल कर बहते हुए जल की छवि छल-छल बहते आँसुओं-जैसी हो रही है! चारों ओर घोर सन्नाटा-सा खिंच गया है। कवि के मन-प्राणों में गहरी उदासी भर आई है। रह-रह कर, जैसे किसी भूले-बिसरे की सुधि बहाए लिए आ रही हो, हवा कुछ इसी तरह धीरे-धीरे बह रही है। सिर्फ बह ही नहीं रही है, कुछ कह कर, कोई सोई-सी पीर जगा कर, बह रही है। क्या कहती है ऐसा, जो बिना भिगोए मन को भारी कर देता है? परिमल की—पल भर पाए हुए प्यार की—फिर न दुहराई जा सकने वाली कोई कहानी याद दिला देती है। यह खुशबू का दंशन मन में टीस पैदा करता है और बस...

परिमल मसलन से पैदा हुई सुगन्ध है, सिर्फ ज्यों-त्यों झोंके में उड़ी चली आई गन्ध नहीं। सुन्दर-सुकुमार देह सारी निपट निठुराई से झकझोरने और अंगारों से लहकते गोल कपोल मसलने से निकली हुई सुगन्ध की धुँधली-धुँधली-सी याद कितनी तीखी और कैसी चुभन-भरी हो सकती है, कोई लाज-भरा सौन्दर्य ही समझ सकता है। प्रणय-विहीन विलास तो अपने आप में दिल और दिमाग की सड़ायँध है। हवा ऐसी बेहया नहीं होती कि उसे परिमल की सुधि दिलाए! पुरातन प्रीति की गीति-सुलभ सुगन्ध मर्यादित प्राणों को ही पुलकित करती है, मधुकरी वृत्ति को काठ काटने की उत्तेजना नहीं देती।

[परिमल एक दूसरे अर्थ को भी ध्वनित करता है। कवि की उद्दाम प्रतिभा के अभ्यन्तर की प्रथम अनाघ्रात अमन्द सुगन्ध वाली काव्य-पुस्तिका परिमल, जो अनेक स्तरों पर कवि के जीवन-संघर्ष की अनुभूतियों का चित्राधार है, सान्ध्य पवन में उसके लेखन-प्रकाशन की कष्ट-क्लिष्ट कहानी बही आती है। जिस आस-अभिलाष से इसे प्रकाशित किया गया था, वह पूरी न हुई। इसके गुण ही अवगुण बन गए। बारह वर्षों में इसकी एक हजार प्रतियाँ भी नहीं बिकीं। कवि को रायल्टी के पैसे मिलने की नौबत ही नहीं आई।

हवा में उदासी यूँ ही नहीं घुल आई है। कवि स्तरीयता का मारा हुआ है। आज भी वह उसी उत्तुङ्ग शृङ्ग से पुकारता है। दिन जल्दी-जल्दी ढलता है' नहीं लिखता।]

यहाँ मुझे शेली की याद आती है :

The sun is warm, the sky is clear,
The waves are dancing fast and bright.

+ + +

The cold earth slept below,
above the cold sky shone
And all around,
With a chilling sound,

इन ऐसी पंक्तियों द्वारा कविता के कथ्य के अनुरूप वातावरण की सृष्टि करने में शेली को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु ले-देकर

इन पंक्तियों से बनता वाच्यार्थ ही है। यह दूरागत ध्वनि नहीं है। टैगोर में इस शैली का अद्भुत विकास हुआ था। प्रकृति के साथ मानव-प्रकृति को जोड़ कर वह कुछ बेजोड़ कह जाते हैं। निराला के गीतों की-सी सघनता या भाव-गहनता उनमें नहीं है। यों टैगोर के गीत आकाश से धरती पर उतरे हैं, निराला के गीत धरती से चलकर आकाश में पहुँच जाते हैं। उन्हें मेघ-मन्द्र, विद्युत्गर्जन या सन-सन पवन-स्वन में ही सुना जा सकता है।

निराला का प्रत्येक पाठक उनके उदात्त भावों का भागीदार नहीं बन पाता। उनका गीतिकाव्य महाकाव्य के अप्रतिम अंश-विशेष के समान है। उनके गीत मानस-सरोवर में खिले हुए कमल के फूल हैं। उन्हें डबरे में नहीं पाया जा सकता। अस्तु।

कवि हममें उतर आ सकता है मगर हम उसकी जगह नहीं ले सकते। सच तो यह कि ऐसे गीतिकाव्य भी कम नहीं हैं जो कवि व्यक्ति की अभिव्यक्ति मात्र न होकर जातीय, सामूहिक भावों की प्रतिध्वनि होते हैं। सामूहिक चेतना की स्पष्ट अभिव्यञ्जना राष्ट्रीय गीतों में देखी जा सकती है जो कवि के वैयक्तिक उद्गार न होकर सामूहिक अनुभूति की समवेत वाणी-से हुआ करते हैं।

व्यक्ति जीवन की भाँति जातीय जीवन में भी उतार-चढ़ाव की ऐसी घड़ियाँ आती हैं जब व्यक्ति और व्यक्तित्व की निजी भावनाओं को एक ओर छोड़ कर सामान्य अनुभूतियाँ सिर उठाने लगती हैं। गीत में जातीयता और सामूहिकता की समवेत अभिव्यक्ति की भी वैसी ही एक क्रान्तिकारी घड़ी होती है।

भक्तिपरक एवं दार्शनिक गीतिकाव्य में भाव अथवा विचार ही उल्लेख्य होता है, सरल-तरल स्वर-समारोह अपेक्षाकृत गौण हो जाता है। किन्तु भावुकता और सुन्दरता का दामन छूट जाने पर पारदर्शिता और भाषिक ऐश्वर्य—चित्रात्मकता आदि के अभाव में, निरी तुक-बन्दी कैसी भी कविता की श्रेणी में न आएगी, गीति कविता का हिसाब-किताब तो और नाजूक मामला है।

गीतिकविता की और सारी सामग्री मौजूद हो, सिर्फ भाव गहरे

और विचार ऊँचे न हों तो एक दफ़ा चल जायगा, किन्तु विशिष्ट भावों और उत्कृष्ट विचारों के बावजूद काव्यात्मक अभिव्यक्ति के अभाव में उच्चकोटि के पद्य को भी काव्य कहना कठिन होगा।

गीतिकाव्य के कतिपय भेद-उपभेद भी प्रचलित हैं। उनमें ओड (Ode) और एलेजी (Elegy) प्रमुख हैं; सॉनेट बीच का है, एपिस्टल (Epistle) और सटायर (Satire) खूब चलते हैं। कुछ लोग बैलेड (Ballad) को भी गीतिकाव्य में गिनते हैं। यह गलत है। बैलेड आख्यान होने के कारण Objective Poetry है, वस्तुनिष्ठ कविता।

निराला ने सब लिखा है। 'यमुना के प्रति' उनका सर्वोत्तम 'प्रति-गान' या 'सम्बोधन गीति' (ओड) है; 'सरोज-स्मृति'—जैसी 'एलेजी' (शोकगीति) विश्वकाव्य में विरल है। शेली के 'वेस्ट विंड', कीट्स के 'नाइटिंगेल' और 'ग्रीसियन अर्न' के ही जोड़-जोड़ का ओड 'यमुना के प्रति' है। इसी प्रकार 'सरोज स्मृति' मिल्टन की लिसिडास (Lycidas) 'ग्रे' की 'कन्ट्री चर्चयार्ड' और आर्नल्ड की Rugby chapter और Thyrsis—जैसी शोकगीतियों की तुलना में कहीं अधिक मार्मिक है। यह 'गेटे' की रोमन एलेजीज की तरह प्रसिद्ध है।

'एपिस्टल' और 'सटायर' के ज्वलन्त उदाहरण निराला की 'वनबेला' और 'दान' कविताएँ हैं।

गीतिकाव्य का एक उल्लेख्य रूप 'सॉनेट' है। चतुर्दश पंक्तियों की इसकी संरचना कुछ विशेष नियमों से नियोजित होती है। प्रसाद और निराला ने कई अच्छे सॉनेट लिखे हैं। इटैलियन सॉनेट की तरह नियमों का निर्वाह इन्होंने न भी किया हो, शेक्सपीरियन सॉनेट की तरह पोयटिक टेकनिक को अमान्य भी नहीं किया है, प्रत्युत हिन्दी की प्रकृति में उसे ढालने की भरपूर कोशिश की है।

न मैं रस्मअदायगी के मूड में था, न वह किसी बहाने टाल देने के लायक थे। साहित्य कभी मेरे लिए सरदर्द न रहा। ऐसी चर्चा की घड़ी तो मेरे लिए प्रीतिकर, आनन्द की घड़ी होती है।

उन्होंने मेरी इस कमजोरी पर सीधी चोट की :

एक बात और बताइए : क्या गीत और गीति (लिरिक) एक ही काव्य-प्रकार के दो प्रचलित नाम हैं ? या ये दोनों दो हैं ?

मैं हँसा : यह ऐसे पूछ रहे हैं आप, जैसे कोई सम्पूर्ण रामायण

सुनने के बाद पूछे कि सीता किसकी पत्नी थीं ।

हँसी ठट्ठे में नए सिरसे ताजगी सँजोई गई और फिर खाँस-खखार कर मैं शुरू हो गया :

गीत-काव्य बनाम गीतिकाव्य

गद्य, पद्य तथा गान का वर्गीकरण नया नहीं है। काव्य-रचना इन तीनों विधाओं में होती आई है। आजकल जैसे गद्य का जोर है, पहले पद्य का था। पद्य की प्राचीनतम उपलब्ध कृति ऋग्वेद है।

यद्यपि गान पद्य का ही एक प्रकार-विशेष है; किन्तु प्रत्येक पद्य के गेय न होने के कारण असाधारण स्वर-गुणों से विशिष्ट पद्य को गान कहा गया। गान का महान आदि ग्रन्थ सामवेद है।

ऐसे ही यजुर्वेद गद्य का सबसे पुराना प्रामाणिक आर्ष-ग्रन्थ है।

सामवेद में थोड़े-से—पचहत्तर—नए गानों को छोड़कर शेष सब ऋग्वेद से गेय ऋचाओं के चयन के रूप में संकलित हैं।

ऋग्वेद ज्ञान की वाणी है, सामवेद प्राण-गान। छान्दोग्य ने स्वयं स्वीकारा है—‘वागेव ऋक्, प्राणः साम ।’

यों तो साम का अर्थ है—गान; ऋचाओं को पद मानें तो साम को स्वर-लयमय राग कहना उचित होगा। विलम्बित लय में पद को बार-बार गाने पर सामगान ध्रुपद या ख्याल-पद्धति के आलाप के समान जान पड़ता है। ‘ऋचि अध्यूढं साम गीयते’—कहा ही गया है।

ज्ञान की वाणी अपवित्र नहीं हो सकती। ‘न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।’ ऋग्वेद ऐसा कुछ नहीं बोलता, जिसका उच्चारण करने में वाणी को विलज्जित होना पड़े, कुण्ठित होना पड़े ! कुल मिलाकर उससे वाणी मर्यादित ही होती है। स्वरों की विशेष यति-गति, विशेष उतार-चढ़ाव, वर्णों का नियत स्थानों से उच्चारण, शब्दों की अर्थ-मन्थरता का बोध—छन्दोबन्धन के भीतर से यह छान्दस् स्वच्छन्दता अपनी प्रतिष्ठा आप है। माप-तोल की यही संस्कृति अमेय-अतुल तक फैलती चली गई है।

वाक्शुद्धि की महिमा कौन बखान सकता है ? क्रमशः वचन, मन और कर्म के प्रतीक रूप में ऋक्, साम और यजुष् को समझना चाहिए।

ज्ञान मस्तिष्क के तन्तुओं को प्रभावित करता है; किन्तु भाव अवयव की मांसपेशियों—शिराओं-उपशिराओं तक को आन्दोलित कर देता है। साम भावात्मक है। मन से उसका सीधा लगाव है। मन और प्राण और सर्वेन्द्रियाँ भाव-प्रधान संगीत की ध्वनि-तरङ्गों से अप्रभावित रहें, इसका कोई उपाय नहीं है।

जैसे क्रमशः व्यञ्जित वर्णों से पद, पदों से वाक्य, वाक्यों से महा-वाक्य और उनसे कोई प्रबन्ध स्फुटित होता है, ऐसे ही सृष्टि की प्रक्रिया में पहले भाव है, फिर ज्ञान और कर्म। ऋग्वेद को ज्ञान का और यजुर्वेद को कर्म का प्रतीक मानें तो सामवेद को भाव का प्रतीक मानना होगा।

**‘नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद् वचः
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्’**

—का यही रहस्य है।

नादब्रह्म शब्दब्रह्म से पहले है। नाद भौतिक जगत् का शक्ति-तत्त्व है। उसी की अभिव्यक्ति को बिन्दु कहते हैं। ‘वाचः ऋक् रसः, ऋचः साम रसः।’ वाणी का रस ऋचा (ऋग्वेद) है और ऋचा (ऋग्वेद) का रस, साम (-वेद) है। तभी शार्ङ्गदेव ने ‘अध्यात्मविवेक’ के ज्ञानी की हैसियत से — ‘सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः’ लिखा है।

ज्ञान को नाम और कर्म को रूप कहें तो भाव को—इन नामरूपों के ऊपर प्रतिष्ठित करना होगा। प्राणों का संस्पर्श न हो तो क्या शुष्क ज्ञान और क्या यान्त्रिक कर्म ! क्या तोतारटंत नाम और क्या अष्टावक्र रूप !

जैसे अगस्त्य मुनि ने एक ही चुल्लू पानी में मत्स्य-कच्छप अवतारों के दिव्य दर्शन कर लिए थे, ऐसे ही प्राणोन्मादन भाव स्वर-लहरियों में ज्ञान और कर्म को बहा ले जाने की व्यापक शक्ति रखता है।

‘शतपथ ब्राह्मण’ ने साम का अस्तित्व स्वर में ही प्रतिष्ठित माना है—‘तस्य साम्नः स्वर एव स्वम्।’ स्वर भर दो तो साम बन जाए नहीं तो ऋचा ही ऋचा रहेगी।

भाव स्वरों में ढल कर गीत बन जाता है। जैसे आत्मा और परमात्मा में पूरी भावात्मक है, देश-काल-गत नहीं, ऐसे ही स्वर और

भाव की दूरी भी है। त्रिगुणात्मक आवरण का भंग होते ही आत्मा और परमात्मा एकाकार हो जाते हैं; ज्ञान और कर्म के किनारे डुबोकर गीत की अमृतधार उमड़ पड़ती है।

‘योगवासिष्ठ’ में बताया गया है कि फूलों में गन्ध, सागर में तरङ्ग और सूर्य में किरणें अभिन्न रूप में विद्यमान रहती हैं उसी प्रकार मेरा विश्वास है कि प्रत्येक स्वर में भाव सत्ता से अभिन्न रहता है। जो अर्थ-हीन है वह भावहीन नहीं होता। ‘न भावहीनोऽस्ति स्वरो न भावस्स्वरवर्जितः।’

‘सानिधिनिसा ऽऽ रे ऽऽ सा ऽऽऽ, ग म प ग म रे ऽऽ ग प ध प म ग म रे ऽऽ सा ऽऽऽ’ इसका क्या अर्थ हो सकता है? अर्थ चाहे कुछ न हो; किन्तु राग ‘विलावल’ का अभिज्ञ इसका भाव अवश्य बता देगा।

सृष्टि की समस्त कल्पनाओं से पहले संकल्प-विकल्पात्मक मन उत्पन्न हुआ था, मैं समझता हूँ, समस्त शब्दार्थ-प्रपञ्च का अग्रगामी स्वर ही है।

गीत किसी भी रस का हो सकता है; किन्तु ‘मधुरांश्च निशम्य शब्दान्’—लिखकर कालिदास ने उस बिन्दु की परिधि का निर्माण कर दिया है। माधुर्य गीत-सङ्गीत की अनिवार्यता है। सूर-मीरा की मधुरता प्राणों में समा जाती है, आदिम वेदों की सुमधुर गेयता का ही यह विश्व-व्यापी प्रभाव है। हमें वेदों की आनुवंशिकता और चण्डीदास-विद्यापति का परिवेश न मिला होता तो मालूम नहीं, हमारे संस्कार जल्लाद की औलाद के-जैसे होते या आक्रामक के धूल उड़ाते, रक्त-पङ्क उछालते हिनहिनाते घोड़े के-से। अभी तो हम जैसे हैं, उसके करण-कारण का अता-पता पाने के लिए अँधेरे में तीर चलाने की जरूरत न होगी। हम तत्त्वदर्शी कबीर को, भक्त-शिरोमणि तुलसीदास को गाते देख कर गा उठे। वह गई बौद्धिकता कबीर की गीता की सुधा-धारा में; उमड़ पड़ा रस-प्रवाह तुलसी की विनय में; सूर के सुर आँखों में प्राणों की रसार्द्र आभा उभारते रहे; मीरा का वेदना-विह्वल कण्ठ मन की निर्जन घाटियों को यों गुँजाता रहा जैसे आधी रात के सन्नाटे को पपीहे का निर्जल आह्वान !

अपनी असामर्थ्य की धूल उड़ा कर, अपने सहजात मैल को पराई आँखों में जमा कर, अपने कमहीन कर्तृत्व को द्वेष और दम्भ के खम्भों

में लटका कर कोई विवेकी गीत-वितान को प्राणों की ध्वनि से अकम्पित, चरण-चारण से अप्रतिध्वनित नहीं सिद्ध कर सकता। कैसे भी विचारों का विद्युत्स्पर्श निर्भयता में सुदृढ़, सहज-ऋजु—

‘पग घुँघरू बाँध मोरा नाची रे।’

को झटका नहीं दे सकता।

गीत जिनका अन्तर्गत शाब्दिक व्यायाम है, वह स्वर की भूमि पहचानते ही नहीं हैं। वह वर्ण-‘माला’ पर हाथ फेरते, उँगलियों पर छन्द की मात्राएँ गिनते हैं। ऐसे ही अनिवार्य अभावुक पद्यकार गीत को मोरूसी हक मानते और इस क्षेत्र को भी अपने ही कब्जे में रखना चाहते हैं। हरिस्मरण की उत्सुकता नहीं, गीत-कला के विलास-प्रकाश का कोई कुतूहल नहीं, तब मधुर-कोमलकान्त-पदावली का मर्म कैसे मालूम होगा?—जयदेव-विद्यापति, सूर-तुलसी की गीत-साधना कैसे हलक के नीचे उतरेगी?

मधुर और कोमल का अर्थ ढल-ढल आँसू नहीं होता। मेरुदण्ड-विहीन बेल-सी लचती या कबाब-सी अस्थिहीन कोमलता उच्च कोटि के गीतों के लिए प्रीतिकर नहीं हो सकती। मार्जित रुचि (Refined delicacy) की कोमलता या संवेदना को मधुरता ही यहाँ अभिप्रेत है। दरअसल यह कोमल या मधुर एक ऐसा शब्द है जिसके अर्थगौरव तक पहुँचने में गालिब की मदद बहुत जरूरी है :

‘है ये वो लफ़्ज़ कि शर्मिदाएमानी न हुआ !’

गीत-गत कोमलता गीतकार की निजी प्रकृति, रुचि और शिक्षा पर भी निर्भर है। जिसे राग-ताल का सम्यक् ज्ञान नहीं, वह जयदेव या सूर-तुलसी के समान महान गीत-स्रष्टा नहीं हो सकता। साहित्य के साथ-साथ संगीत तथा दूसरी कलाओं की शिक्षा से परिमार्जित रुचि ही मधुर कोमलकान्त गीतों की सृष्टि कर सकती है।

गढ़न और उद्गार के समाहार से गीत-सौन्दर्य में निखार आता है। राग उसे साकार कर सहृदयों के उपभोग-योग्य बनाता है। स्वर और भाव का महामिलन ही लोकोत्तर चमत्कार का कारण होता है।

आँखें रूप की रेखाएँ, रंग की तरङ्गें निहारती हैं, कान स्वर-सुधा का पान करते हैं; किन्तु जुड़ाते हैं प्राण। प्राण न जुड़ाएँ तो आँखें भरें

नहीं; कान कृतार्थ न हों ! गीत में रूप भी है, राग भी । प्राण दोनों को एक समान मान देते हैं ।

गीत की चित्र-रेखाएँ शब्दों के माध्यम से अँकती हैं, चित्र और मूर्ति देखनेवाली आँखें इन्हें भी पहचान लेती हैं :

‘वदसि यदि किञ्चिदपि दन्तरुचिकौमुदी
हरति दरतिमिरमतिघोरम्
स्फुरदधरसीधवे तव वदन-चन्द्रमा
रोचयति लोचन-चकोरम् !

—जयदेव

यह सुरम्य रेखा-विन्यास ‘देश’-राग के मधुर स्वर से लेशमात्र भी कम आह्लादकर नहीं है ।

सिर लिए मटकिया डोले :

‘कोई श्याम मनोहर लो रे !’

वधि को नाम बिसर गई ग्वालन

‘हरि लो, हरि लो’—बोले !!

—मीरा

प्रेम-विभोर ग्वालन के बाहर-भीतर की छवियों का यह मनोहर अङ्कन चपल पलकों को निस्पन्द किए बिना नहीं रहता । ‘माँड’-राग की वेदना-बिल्लल स्वर-लहरियों से रूपाङ्कन में अनुभाव का आघात कम प्रभावशाली नहीं है ।

इस प्रकार रूप और राग—अर्थात् चित्र और सङ्गीत के समारोह में गीत का वैभव स्रष्टा की बहुमुखी अभिज्ञता का प्रत्यभिज्ञान सिद्ध होता है । भावोद्गार को सजाने-सँवारने के लिए गीतकार मुख्य रूप में इन्हीं दोनों उपकरणों का सहारा लेता है ।

गीत में भाव एवम् उद्गार का स्थान ज्ञान को प्राप्त हो सकता है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर मैं ‘हाँ’ में दूँगा । मेरे विचार से गीत और गीतिकाव्य एक नहीं है । गीत का दायरा बड़ा है, गीतिकाव्य का छोटा । गीत की परिधि में गीतिकाव्य आ सकता है, गीतिकाव्य कहने से गीतिकाव्य का बोध नहीं होता । सुस्पष्ट शब्दों में गीतिकाव्य भारत में अँकुरा, फूला और फला है । गीतिकाव्य पश्चिम की हवा में बह कर आया हुआ वैयक्तिक संवेदनाओं का साधारणीकृत स्वर-विशेष है ।

उसकी संकुचित परिभाषा में सूर-तुलसी के सागर और मानस का विपुल विस्तार नहीं समा सकता और कबीर तथा मीरा के कुछ पद गीतिकाव्य कहला कर ही अमर पद प्राप्त कर सके हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। जिसे

निसिदिन बरसत नैन हमारे

या

ऊधो, मोहे ब्रज बिसरत नाहीं

—ऐसे वेदना-विह्वल गीतों में भी सूर का स्वर सुनाई नहीं देता, उसकी साम्प्रदायिक आत्मनिष्ठता के सहारे भारतीय गीत-कविता की बेल परवान नहीं चढ़ी है।

यदि सूर-तुलसी के गीत गीत नहीं हैं तो हिन्दी में गीत लिखे ही नहीं गए। उनके छन्द आत्म-निष्ठ एवं वस्तु-निष्ठ अभिव्यक्ति के लिए स्वच्छन्द हैं। कबीर और तुलसी ने सविशेष ज्ञान ही गाया है। वेदों ने सर्वप्रथम ज्ञान को गेय बनाया था; प्रजा और उपलब्धि को भी स्वरों से सँवार कर सौहार्द की हार्दिकता दी थी। शब्दों में पहले स्वरों, फिर वर्णों की परख ही बताती है कि बौद्धिक ऋचाएँ काठ खोदने वाले पंछी की लम्बी चोंच नहीं हैं जो अपने अनोखे नुकीलेपन से श्रोताओं और अध्येताओं के माथे की शिराएँ उधेड़ दें।

सारे संशय-विपर्यय गीतिकाव्य एवं गीतिकाव्य को एक मान कर चलने से उत्पन्न होते हैं। मैं यहाँ सुस्पष्ट शब्दों में उद्धोषित कर देना चाहता हूँ कि ये दोनों दो हैं।

गीतगोविन्द गीतिकाव्य नहीं है, गीतशैली में लिखा हुआ एक प्रबन्ध काव्य है—एतं करोति जयदेवकविः प्रबन्धम्—जयदेव ने स्वयं स्वीकारा है। 'मेघदूत' की भावैकतानता गीतिकाव्य के गुणों से आवेष्टित अवश्य है; किन्तु वह पश्चिमी शैली की गीति-रचना नहीं है।

चण्डीदास और विद्यापति के पदों में भारतीय गीत-परम्परा ही उजागर हुई है। कबीर, सूर, तुलसी में भी यही बात है। इन पुण्यश्लोक महाकवियों के गीत शताब्दियों से कोटि-कोटि भारतीयों के मन-प्राणों को आप्लावित करते आए हैं। गीति-कवि की अभिनव विडम्बनाओं के बिना भी इनकी स्थायिनी निरपायिनी कीर्ति पर आँच आनेवाली नहीं है।

गीतकविता की व्यापकता उसे छायावाद की माया से भी बचा ले जाती है, रहस्यवाद की दुर्व्यख्याओं से भी। गीत इन सब वाद-प्रवादों के ऊपर है। गीतिकाव्य की वैयक्तिकता भले ही छाया और रहस्य के अवगुण्ठनों से झाँके, गीत अखण्ड और स्व-प्रकाशित होता है।

‘ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे’

भी गीत है और—

‘सइ, केवा सुनाइले श्याम नाम ?

कानेर भितर दिया, मरमे पशिल गो

आकुल करिल मोर प्राण !

भी। ‘गीता’ वैयक्तिक भावोद्गार नहीं है; ‘गायत्री’ रहस्यवाद नहीं है; किन्तु ये नाम किस ओर सङ्केत कर रहे हैं ?

लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल, लोगी मोल ?

तरल तुहिन वन का उल्लास, लोगी मोल, लोगी मोल ?

या

लो, जग की डाली-डाली पर जागीं नवजीवन की कलियाँ !

मिट्टी ने जड़ निद्रा तज कर खोलीं स्वप्निल पलकावलियाँ !!

मलयानिल ने सरका उर से

उर्वी का तन्द्रिल छायाञ्चल,

रज-रज के रोएँ-रोएँ में

छू-छू भर दीं पुलकावलियाँ !

जिस प्रकार पन्त की अछूती गीत-कला के नमूने हैं ऐसे ही—

भारतमाता ग्रामवासिनी !

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिराङ्कित,

नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,

आनन श्री छाया - शशि - उपमित,

ज्ञानमूढ़, गीता प्रकाशिनी !

×

×

चित् शून्य—आज जग, नव निनाद से हो गुञ्जित,

मन जड़ — उसमें नव स्थितियों के गुण हों जागृत,

तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आरपार,

झड़कृत भविष्य का सत्य कर सकी स्वराकार वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलङ्कार !

भी। काव्य और संगीत के ताने-बानों से बुने हुए ये गीत पद्यबद्ध प्रवचनों, नारों और ललकारों से कितने भिन्न हैं ! यहाँ साहित्य और सङ्गीत प्रतिद्वन्द्वी नहीं, सहचर हैं। गीत-कला ने निरर्थक शब्द-जाल से सङ्गीत को और बेसुरे शब्दों से काव्य को बचाया ही नहीं है—इन दोनों के अस्मिता-दोष दूर कर इन्हें समान गुणों वाला—समप्राण—सखा भी बना दिया है।

महाभारत में पृथ्वी को समतल बनानेवाले महाराज पृथु को भगवान् विष्णु की आठवीं पीढ़ी में बताया गया है। १-विष्णु, २-विरज, ३-कीर्तिमान्, ४-कर्दम, ५-अनङ्ग, ६-अतिबल और ७-वेन के बाद ८-पृथु का नाम आता है। सृष्टि की स्थिति का देवता सात पीढ़ियों तक ऊबड़खाबड़पन सह सकता है, आठवीं पीढ़ी उसे सपाट बनाए बिना नहीं रहती। षड्ज से निषाद तक की चढ़ाई षड्ज पर फिर लौट कर सम का सृजन करती है। शब्दों का ऊबड़खाबड़पन लय से बँधने पर व्यापक हादिकता की एक नई शक्ति से समृद्ध हो जाता है—गीत बन जाता है। साम की स्वर-हिलोर जीवन को समुद्र बना देती है, तब वह छिछले में छलकना भूल जाता है।

स्वयं यह सृष्टि एक लयात्मक छन्द-जैसी है। गति छन्द से बँध कर नृत्य बन जाती है; छन्द से बँध कर गीत बन जाती है। छन्द से बँधना सृष्टि के प्राणों से बँधना है।

‘तैत्तिरीय ब्राह्मण’ में एक मन्त्र आया है कि मूर्ति गढ़ने का काम (आकृति) ऋग्वेद करता है, उसे गति देता है यजुर्वेद और सामवेद प्राणों की तेजस्विता भर कर उसे अलौकिक आलोक से आन्दोलित कर देता है।

मूर्ति सत् है तो गति चित् और “सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्”—प्राणों का उद्बेलन,—अमूर्त आनन्द। मूर्त वाक् अमूर्त आनन्द तक विकसित होता है, जब साम (गान) बनता है। वचन और कर्म मन में डूब जाते हैं,—जब प्राण-गान स्वरों में—प्रसरणशील किरण-कम्पन भर कर उभरता है। ‘म ग रे सा नि ध प’—स्वरमण्डल में सप्तम स्वर से (सङ्गीतशास्त्र में यह पञ्चम कहलाता है) साम गान का आरम्भ

होता है। सामवेद के मन्त्रों में ऋग्वेद की ऋचाओं में—जैसा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का निर्देश रेखाओं द्वारा न हो कर अङ्कों द्वारा होता है। ऋग्वेद में—

‘अग्निना’ रयिमश्नवत् पोषमेव दिदे दिवे
यशसं वीर वत्तमम् !’

—लिखने का प्रकार यह होगा; किन्तु सामवेद में—

३ १ २ २ २ ३ १ २ २ २
‘तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्नि

३ १ २ ३ १ २ २ ३ २

ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्’ लिखा जायगा। विलम्बित लय में गाए जाने वाले साम-मन्त्र में स्वर-निर्देश अङ्कों द्वारा किया गया है। यहाँ १ का अर्थ उदात्त, २ का स्वरित और ३ का अनुदात्त है। एक के बाद दूसरा उदात्त होने पर पहले उदात्त में १ र चिह्न लगेगा, दूसरे में कोई चिह्न न होगा। उसके बाद वाले स्वरित का चिह्न होगा २ र। संगीत की स्वरलिपि में इसका रूप कुछ ऐसा होगा :—

रे म ऽ ग ऽ ऽ ऽ रे म ऽ ग ऽ रे म ग रे म ऽ ग ऽ रे ग ।

संगीत का आदि स्रोत साम होने के कारण शब्द-अर्थ के साहित्य की भाँति, शब्द और स्वर का सामञ्जस्य प्रदर्शित करना ही मेरा उद्देश्य है। मैं कहना चाहता हूँ कि यह मिलन अनादिकालिक है। स्वर-संभार काव्यार्थ को ढकता नहीं, उसे सहज ग्राह्य बना देता है।

शेली और टैगोर के उद्धरणों के बाद हिन्दी में गीत विशेषतः वैयक्तिक करुण अनुभूतियों का उद्रेक समझा जाने लगा है, किन्तु इस मान्यता में आंशिक सत्य ही है। इसी पूर्वाग्रही कसौटी पर कस कर कदाचित् ‘गीतिका’ के गीतों को महादेवी के गीतों के समान मार्मिक नहीं माना गया। मैं पहले ही गीत और गीतिकाव्य के मौलिक विभेद की ओर पर्याप्त संकेत कर चुका हूँ। कवि का भावावेश अनुरूप शब्दों

१. यस्मिन् ऋचः साम यजूषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः
यस्मिश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।

की सीप में मोती का रूप ग्रहण कर लेता है :

‘हा हा देवि स्फुटति हृदयं संसते देहबन्धः’ का आर्त क्रन्दन पत्थर को रुला चुका है, वज्र का कलेजा चीर चुका है—सही; किन्तु इसका लगाव संवेदना की सचाई से है, अभिव्यक्ति की पारदर्शिता से है, राग टोड़ी, दुर्गा या विलावल-खमाज की सहायता के बिना भी नाटकीय आवृत्ति मात्र से उसकी रसार्द्रता में अन्तर न होगा और न स्वरोर्मियों में लहरा कर भवभूति के भावातिरेक को और अधिक प्रकर्षता ही प्रदान की जा सकती है। मेरे विचार से ऐसा इसलिए है कि इस पद्य में काव्य-कला और नाट्य-शिल्प को मिलाया गया है, साहित्य और संगीत को नहीं; कदाचित् इस संयोग से राम के वियोग में तीव्रता ही आई है; कदाचित् गाना-बजाना राम की प्रकृति के अनुरूप नहीं प्रतीत होता।

अब इसके उल्टे कालिदास की काव्य-कला की एक झलक देखें :

‘रात्रिर्गता, मतिमतां वर मुञ्च शय्यां,
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता,
तामेकतस्तव विभति गुरुविनिद्र—
स्तस्याः भवानपरधुर्य्यपदावलम्बी !,

मेरे विश्लेषण के अनुसार इसमें नाटकीयता नहीं, गेयता है। श्लोक का बाना बनाए हुए यह गीत ही है। इसमें शब्द और अर्थ का साहित्य तो है ही, शब्द और स्वर का संगम और अधिक स्पष्ट है। पहले केवल पाठ कर इसके अर्थ-विस्तार की सीमा समझ लें, फिर इसे भैरवी के स्वरों से भर कर उभरने दें, अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। That which is not worth saying is sung. का भेद भी खुल जायगा, क्योंकि—

सा, नि॒सा गु॒म प॒धु प, धु॒म, नि॒धु प,
गु॒ प, धु, म॒गु रे म ग॒रे, नि॒धु, सा,

क्या कहता है, वह अर्थ से अधिक सार्थकता शब्द में समोता है या नहीं, आप अनुभव में आ जायगा। श्लोक में कवि साक्षात् अपने मनो-भाव नहीं प्रकट कर रहा, बन्दी माध्यम हैं। स्वयं गाने पर अभिव्यक्ति को व्यक्ति की अपनी अन्तर्ध्वनि का पुलक प्राप्त होता है। आत्मनिष्ठ भावात्मकता के सहज संस्पर्श से वस्तुनिष्ठ वर्णन की गद्यात्मकता

मिट जाती है।

मेरी यह स्वानुभूति उनके किसी काम की नहीं, जो 'विनयपत्रिका' गाते नहीं, बाँचते हैं; स्वर-चषक से मानस-रस नहीं पीते, पारायण या प्रवचन करते हैं। (प्रवचन करने वाले तो यह भी भूल जाते हैं कि ज्ञान छाँटने के लिए ऐसी कठिन छन्दसाधना कोई नहीं करता कि तुलसीदास जी कवि-सम्राट् ही नहीं, छन्दों के भी सम्राट् हैं और यह छन्दःसाधना "भुजङ्गप्रयातं भवेद् यैश्चतुभिः" और "फऊलन फऊलन फऊलन फऊलन" की राष्ट्रीय एकता-जैसी कोई कागजी चीज नहीं है।)

गीत गा कर या सुन कर जो आनन्दित नहीं होता, उसे यह तत्त्व कैसे भी नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि सार्थकता स्वनिष्ठ होती है। 'रामचरित मानस' गद्य या मुक्तवृत्त में लिखा जाकर ऐसी सार्व-भौम आशंसा नहीं अर्जित कर सकता था। आज उसके सर्वग्रेय संगीत पर मृग से सरल स्वभाव के भावुक जान देते हैं तब अग्रेय अर्थवत्ता में अतिगहन मुक्ति-बोध कुछ सिंहों के लेहड़ों को ही ग्राह्य होता।

जिसे सरल हृदयों का स्नेह न मिला वह बंकिम कटाक्ष का चंद-रोज़ा सुख भोग ले; किन्तु बुद्धि की वक्रता उसे ग्रस लेने के लिए हर वक्त मौके का इन्तजार करती रहेगी। सहस्राब्दियों वाले कालिदास-भवभूति जनता के बौद्धिक 'विकास' को न रोक सके तो ये शताब्दियों वाले सूर-तुलसी सुरों के सेतु पर हेतुवादियों को कब तक बिलमाते? 'विपथगा' बुद्धि ने वैज्ञानिक शब्दावली में काव्य के कलापक्ष को पीछे छोड़ दिया, आप किसी वाद के पीछे भागती-भागती जाने कहाँ पहुँच गई! मैं नहीं जानता, अब वह सूर-तुलसी को हिन्दी-साहित्य के इतिहास को शोभा ही मानती है या काव्य-प्रेमी प्राणों का चिरन्तन प्रतिमान!—स्वरों की स्वर्गङ्गा के राजहंसों का पद्मगन्धी सनातन गान?

शब्द और स्वर के अनुशासन को समान रूप से हृदयङ्गम करने वालों ने गीत-संगीत की महिमा स्वीकारी है। कालिदास—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः'

लिख गए हैं। श्रीहर्ष सरस्वती का रूपाङ्कन करते हुए उनके कण्ठ को संगीत की और उनकी चपल चितवन को साहित्य की रेखाओं में

उभार चुके हैं—

‘गान्धर्वविद्याधरकण्ठनाला’^१

एवं

‘साहित्य-निर्वर्तित दृक्तरङ्गा’ लिख कर।

एक अकेला ‘गीतगोविन्द’ लगभग एक हजार साल से भारतीय काव्य, गीत, नृत्य, नाट्य का अक्षय प्रेरणास्रोत बना रहा है। उसने भारत की सभी भाषाओं को सुरीला बनाया है, सन्तों और भक्तों का सारा साहित्य उसी के प्रभाव से जनता का कण्ठहार बना है जिससे श्रेष्ठ साहित्य इस युग के टैगोर और निराला भी नहीं लिख सके हैं।

जैसे कला के माध्यम से अब तक एक मात्र कालिदास ही अखण्ड भारत के राष्ट्रकवि कहे जाने योग्य हुए हैं—इस युग के भोंपू-प्रचारित हल्ला-गुल्ला करने वाले ढेर के ढेर पद्यकार नहीं, कुछ उसी प्रकार दक्षिण और उत्तर भारत को एक अकेले गीतगोविन्द ने ही अपने स्वर-माधुर्य से बाँधा है। उत्तर-दक्षिण में लोकप्रिय राग-रागिनियों के समानान्तर निर्देश से उसकी सार्वदेशिकता खण्डित नहीं, संवर्द्धित होती है।

१. शङ्कराचार्य ने इस चित्र में कितने ही रंग भरे हैं—

त्वदीयैर्माधुर्यैरपलपिततन्त्रीकलरवां

निजां वीणां वाणी निचुलयति चोबेन निभूतम्

कि सात तारों वाली अपनी कच्छपी वीणा को सरस्वती आँचल से छिपा लेती हैं जब कभी पार्वती बोलने लगती हैं;

कि पार्वती के गले की तीन रेखाएँ संगीत के गति, गमक और गीत-जैसी जान पड़ती हैं अथवा भिन्न-भिन्न मधुर रागों को सिरजने वाले षड्ज, मध्यम और गान्धार—इन तीनों ग्रामों—स्वर-सन्दर्भों की स्थिति के नियमों की सीमाओं-सरीखी दीखती हैं :—

गले रेखास्तिस्त्रो गतिगमकगीतैकनिपुणे

विवाहव्यालब्धप्रगुणगुणसंख्याप्रतिभुवः

विराजन्ते नानाविधमधुररागाङ्कुरभुवां

त्रयाणां ग्रामाणां स्थितिनियमसीमान इव ते।

—सौन्दर्यलहरी

अथर्व की प्रार्थना को जयदेव द्वारा ही तो सार्थकता प्राप्त हुई है :—

‘मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्
वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसंदृशः !’

—कि हे मधुमन्, मेरा आना-जाना, बोलना-बरतना—सब मधु-मय हो; मैं स्वयं मधु-रूप हो जाऊँ !

कलात्मक सौष्ठव की पराकाष्ठा पर पहुँचे बिना कोई स्वर ऐसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता जो स्मृति में गूँजता रहे, अगीत को गीत-माधुरी में डुबोकर आस्वाद्य बनाए ! जैसे कालिदास—

रम्याणि दीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि’ लिख कर

असीम तक स्वरों के प्रभाव-विस्तार को संकेतित करते हैं, कुछ ऐसी ही अन्तर्ध्वनि शैली और कीट्स की अनुभूतियों में भी सुनाई देती है—

*Music, when soft voices die,
Vibrates in the memory !*

—Shelley

*Heard melodies are sweet, but those unheard
Are sweeter; therefore, ye soft pipes, play on;
Not to the sensual ear but, more endear'd
Pipe to the spirit ditties of no tune.*

—Keats

मैं इस स्थान को स्वर के तत्त्व (Principle) और उनकी नियामक सीमाओं (Limitations) के विश्लेषण के अनुपयुक्त मानता हूँ। व्यञ्जन में, ओत-प्रोत होकर, स्वर ही सत्ता (Existence) स्थापित करता और उसे सार्थकता देता है; विभिन्न वर्णों का संकलन (unity) और प्रति-ष्ठापन स्वर का ही चमत्कार है। यह तो अहिंसक समझौते का परिणाम है कि संगीत को काव्य के शब्द ढोने पड़ते हैं अन्यथा स्वरों की लकुटिया टेके बिना वर्ण लड़खड़ा कर गिर पड़ेंगे। स्वर ही शब्दों में सार्थकता भरते हैं, यह स्पष्ट हो जायगा।

अक्षरों के स्वच्छ अन्वकार में स्वर की ज्योति न जले तो अवश्य ही शब्द और अर्थ कुरुक्षेत्र के मैदान में रण-कौशल दिखलाते रह

जाएँ। तब अक्षरों में 'अकार' और वेदों में 'सामवेद' ही कृष्ण क्यों है, यह गीता माता बता देगी। अन्तर्जगत् के भीतर एक अन्तस्तर जगत् और है जो अन्तर्जगत् को उथला सिद्ध कर देता है—तन और मन को थाह लेने के लिए जो शब्दवेधी वाण छोड़े जाते हैं, वे अविनश्वर स्वर आत्मा को विद्ध करने में असमर्थ हैं। स्वर-समीरण के स्पर्श से झूमते हुए फूलों-सरीखे गीत अनात्म शब्द-संघाती काव्य से भिन्न गन्ध-भीने होते हैं, इसे चीख-चीख कर भड़ाम-भड़ाम बजते शब्दों की गिनती करने वालों को कौन समझा सकता है ?

शब्दों का वीर रस नाद में हकलाने या जबड़े फाड़ने के सबव हास्य में तबदील हो जाता है, अकर्ण अहि यह कहने पर फुफकारते हैं। झींगुरों की झनकार-सा शृङ्गार आत्मिक दीप्ति के अभाव में विधवा-विलाप बन जाता है, सुरमई आँखें यह कहने पर टेसुओं को जलाने लगती हैं।

जैसे जीवन के साथ प्रीत गुंथी है ऐसे ही राग-विराग के साथ गीत। राग में गीतगोविन्द गाया जाता है तो विराग में गीता गाई जाती है। निराला ही नहीं गाते, विवेकानन्द भी गाते हैं, ज्ञान दिग्विजयी होता है, गान हरदम जन-मन में बना रहता है।

(२)

गेयता की भाँति अनुभूति को सघनता भी हो तो गीत गीतिकाव्य बन जाता है। कोमल भावनाएँ गीतिकाव्य की परिधि को यों नियमित करती हैं कि वस्तुवर्णनाएँ कवि की आत्मानुभूति से छनने पर अपना खुरदरापन खो देती हैं। जो आपाततः कुलिशकठोर दिखता है वह सहसा कुसुम-कोमल हो उठता है। रस के सन्दर्भ में रौद्र और बीभत्स भी असह्य नहीं होते; केवल वस्तुपरकता काव्य के दायरे में ही नहीं आती। अनुभूतिमूलक न सही, काल्पनिक भावात्मकता भी न रहे तो कोई अभिव्यक्ति कविता क्यों कहलाए ?

'रामचरितमानस' का सबसे तगड़ा अंश गीति-काव्यात्मक है, उसे निकाल देने पर वह धर्म अथवा नीति-ग्रन्थ मात्र रह जायगा। आत्मानुभूति की तीव्रता न होती तो कबीर की वाणी खँजड़ी पर गाया जाने वाला सधुक्कड़ी गाना बन कर रह जाती, उसे आध्यात्मिक

गीत कहलाने का गौरव कभी न प्राप्त होता।

किसी भी काव्य या महाकाव्य का मार्मिक अंश गीतिकाव्यात्मक ही होता है। उसी के रस-प्लावन में अवशिष्ट वस्तु का अविशिष्ट कङ्काल डूबता-उतराता हुआ दूर-दूर तक बहता चला जाता है।

एक आलोचक ने क्लासिक युग को शक्तिसञ्चय का युग कहा है और रोमाण्टिक युग को शक्ति-प्रकाश का युग कहा है कि रोमाण्टिक युग भावोच्छ्वास के हल्के पंखों कविता को क्लासिक युग की गंभीरता को अलङ्कृत करने वाली रूढ़ रीतियों की ठोस मिट्टी से उड़ाकर आसमान में पहुँचा देता है। क्लासिक युग के हिमशृङ्गों पर वाष्प-संयम के बीच शिलीभूत भाव-भण्डार को रोमाण्टिक कवि अपनी उत्तप्त अनुभूतियों से पिघला कर सजीव और रससिक्त कर, गीतिकाव्य के असंख्य झरनों में प्रवाहित करता है। रोमाण्टिक युग की कल्पना-कल्लोलिनी का क्लासिक युग की अमित भाव-राशि ही उद्गमस्थल हुआ करती है। क्लासिक युग जिस सरल-तरल, चटुल-चपल को बुदबुद समझता है, वही उच्छ्वास-विलास गीतिकाव्य की रसतरङ्गिणी में आवर्त-तरङ्ग-भङ्ग का रूप ग्रहण कर लेता है। जैसे प्रियप्रवास या साकेत को क्लासिक कहना श्रद्धा-प्रदर्शन मात्र है। ऐसे ही रोमाण्टिक काव्य को स्वगत प्रलाप कहना भी अतिरञ्जित आलोचना की दिङ्मूढता ही है। क्लासिक सूर-सागर और राम-चरितमानस है। दीर्घजीविता को भविष्यवाणी ऐसी ही रचनाओं में से फूट निकलती है।

सबसे बड़ी बात यह है कि धर्म, नीति, दर्शन आदि के वाक्य चुन-चुन कर सप्तखण्ड प्रासाद तो खड़ा किया जा सकता है, किन्तु गीतिकाव्य की मार्मिकता को झुठला कर उसे महाकाव्य या क्लासिक का गौरव नहीं दिया जा सकता। मैं ठेठ अपने शब्दों का इस्तेमाल करूँ तो इसे यों कहूँगा कि पेट बड़ा होने से किसी का हृदय बड़ा नहीं होता; शब्दों के कर्णकटु कोलाहल से किसी की प्राणवत्ता नहीं प्रमाणित होती। आए दिन हिन्दी-आलोचना में चोरबाजारी न चलती होती; मुँह देखे की संगठित मुहब्बत न निभाई जाती होती तो आज हमारी भाव-साधना का इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

राष्ट्रीय आदर्शों को लिपिबद्ध करने वाले कवि राजनीतिक

नेताओं की तरह कर्मठ और शक्तिशाली नहीं समझे जाते; किन्तु कोई भी राष्ट्र किसी उच्चैःश्रवा की हिनहिनाहट में भी पूर्णतया प्रतिध्वनित नहीं होता। राजस्थान के प्राण प्रताप के प्रण और जौहर की ज्योति से ही नहीं जगमगाए, मीरा की वेदना के भाव-भीने श्याम घन भी उन्हें भीतर से उजालते ही रहे हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य का इतिहास सुदूर-विस्मृत क्लासिक युग की करुण कथा ही ओजस्वी शब्दों में सुना सकता है; किन्तु उसका स्वयं का आरम्भ भारतेन्दु के गीतों और पदों के गुञ्जित कक्ष से ही हुआ है। भारतेन्दु युग से द्विवेदी युग तक क्लासिक-प्रतिभा-सम्पन्न एक भी कवि कहीं नहीं दिखता। जो थोड़े-से खण्डकाव्य और कथाकाव्य लिखे गए हैं उनमें कवि की सामर्थ्य खड़ी बोली के खड़ी करने में ही समाप्त-प्राय दिखती है। निबन्ध-प्रबन्ध-पटुता, सघन शब्दावली में अर्थालङ्कारों की विद्युच्छटा, निविड़ भाव से गुम्फित नाटकीय कथासूत्र, त्रिलोक-व्यापी पटभूमि-विस्तार, रस-भाव-समग्रता में प्रभाव-विस्तार, अभिव्यक्ति में अतिशय चमत्कारकारिता क्लासिक युग की कुछ इन विशेषताओं का छायाभास भी 'प्रिय प्रवास', 'साकेत' या 'रामचरितचिन्तामणि' में नहीं है। वस्तुतः हरिऔध, गुप्त एवं रामचरित उपाध्याय क्लासिक-कला-निष्णात न थे; अति-सामान्य गीति-प्रतिभा ने उनके वाग्विस्तार में कुछ ऐसे असामान्य तत्त्व भर दिए थे, जिस कारण उन्हें 'प्रबन्ध कवि' कहलाने का भी सौभाग्य प्राप्त हो गया था। संस्कृत के सामान्य ज्ञान का संबल महत् और उदात्त के उत्तुङ्ग शृङ्गों तक की यात्रा के लिए पर्याप्त न था। और उन्हें अपनी सीमाओं का बोध कौन कराता? जहाँ राष्ट्रीयता के नामाङ्कन से राष्ट्रकवि कहलाने की सुविधा हो; सत्ता के स्वार्थी साथियों का गिरोह तुकबंदी की मोटी किताब को 'महाकाव्य' कह कर आशंसित करता हो, वहाँ भला कौन 'कवि' होना चाहेगा? कवि होना कठिन हो और महाकवि होना आसान, तो कौन बुद्धिमान काव्य-साधना का नाम लेगा?—यही कारण है कि भारतेन्दुयुग से द्विवेदी-युग तक जो हुए, महाकवि हुए; राष्ट्रकवि हुए;—कवि कोई न हुआ।

आधुनिक हिन्दी-कविता का इतिहास, निराला के अनुसार, कवि पन्त से आरम्भ होता है। 'पल्लव' का प्रकाशन प्रायः Lyrical Ballads

के प्रकाशन के समान ही एक नए युग के समारोह-समेत प्रवेश का प्राग्द्वार माना गया। अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान रोमाण्टिक युग का है, वही हिन्दी में छायावाद-युग का उद्घोषित हुआ। अन्तर था तो यही कि अंग्रेजी-काव्य ने क्लासिकल संयम और समृद्धि का दीर्घ-कालीन सुख भोग लिया था तब कहीं रोमाण्टिक प्राणवत्ता प्रकट हुई थी, हिन्दी में 'जयद्रथवध', 'भारतभारती' के सपाट कथ्य के पत्थर में से पन्त का रश्मि-निर्झर फूट पड़ा था। गीतिकाव्य का यह प्राण-प्रवाह पहले निराला, फिर प्रसाद के अन्तस्स्रोतों के संगम से अगाध हो गया। फिर वह सूर-तुलसी की सुधा-धारा की कोटि में आ गया और हिन्दी-कविता को विश्व-साहित्य में प्रतिष्ठित कर अमरत्व पा लिया।

कहना न होगा, 'साकेत' का श्रेष्ठांश छायावाद-युग की देन है। 'यशोधरा' ऐसी परवर्ती रचनाओं पर तो छायावाद का प्रभाव और भी स्पष्ट है। यह सब मैं क्लासिक में छिपे रोमाण्टिक के सन्दर्भ में ही कह रहा हूँ।

सन् '१६ से' २० के आसपास जो आत्मपरक स्वर हिन्दी कविता की आत्मा में गूँजने लगा था, 'झङ्कार' में उसे भी सँजोने का प्रकट प्रयास है। माइकेल का अनुवादक टैगोर की संक्रामक सुगन्ध से कतई कोरा रह जाता, यह संभव ही न था।

असन्दिग्ध रूप में हरिऔध जी इस ऐश्वर्य की चकाचौंध से बच कर संस्कृत-ब्रज-अवधी की अपनी परम्परा से जुड़े रहे। इतना ही नहीं, संस्कृत और फ़ारसी के छन्दों तक ही वह गए। संस्कृत के लम्बे समास हों या उर्दू के मुहाबरे, कोई भी उनकी सपाट तानों में अपने-अपने घरानों को न मिला सके।

औचक ही पन्त की प्रतिभा की प्रथम रश्मि न फूट पड़ती तो संभव है, खड़ी बोली के गाढ़े दिनों के ये वाल्मीकि-व्यास हिन्दी कविता पर कुछ और गहरा प्रभाव छोड़ जाते। अब भी जो पद्यकार उनकी धरोहर सहेजे बैठे हैं वह भरसक मृतक-मुष्टिका में ही हिन्दी कविता को बंद रहने देना चाहते हैं। लोकसंग्रही वस्तुतः वही हैं। जोखम का काम वह कविता को नहीं सौंपते। डाँट-डपट कर उसे आवासीय पंचवटी में ही बनाए रखना चाहते हैं।

देखते ही देखते पन्त और निराला आधुनिक हिन्दी काव्याकाश

के चाँद-सूरज बन गए। प्रसाद हिमालय की तरह धरती पर रहे, चाँद-सूरज हिमालय की परिक्रमा करते देखे गए।

महादेवी और रामकुमार वर्मा में निराला का विराट वैविध्य और पन्त का सहज सौकुमार्य नहीं है। यद्यपि निराला में क्लासिकल और रोमाण्टिक का संयुक्त समन्वय है, शाश्वत और उदात्त के प्रति अगाध आग्रह उनकी प्राथमिक कृतियों में भी विद्यमान है; किन्तु शाश्वत और उदात्त से कहीं अधिक प्रसाद के रहस्य ने महादेवी को प्रभावित किया। उन्होंने क्रमशः वस्तुजगत् से भावजगत् में अपने को समेटा और व्यक्ति-वादी दृष्टिकोण से सुख-दुःख, आशा-निराशा मिलन-विरह के कुछ धुँधले चित्र आँकती रहीं। जब भी उनकी ओर से—

‘उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का,
एक सूत्र सब के बन्धन का,
लघु मानस में वह असीम जग को आमन्त्रित कर लाता।’

और

‘सजग प्रहरी से निरन्तर
जागते अलि रोम निर्भर
निमिष के बुद्बुद मिटा कर
एकरस है समय - सागर

हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले।’

के दावे किए जाते थे; किन्तु इन काल्पनिक चित्रों में चिन्तन की मात्रा चाहे जितनी हो, अनुभूति की तरलता किञ्चिन्मात्र भी न थी। इस भाषा में निराला-पन्त की-सी जीवन की झङ्कार नहीं, प्रसाद की गैरिक रेखाओं-जैसी चित्रमयी उदासी है। घात-प्रतिघात की कौन कहे, अन्त-वेदना की सान्ध्य रश्मि में अर्ध-आलोकित छवि निस्सङ्गता में काँपती हुई अन्तर्मन में सूनापन भर देती है।

‘हो गई आराध्यमय मैं’ में सा-सा सा-सा वाला अद्वैतवाद हो तो हो, तन्मयता नहीं है। ‘यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।’ यों ही नहीं कहा गया है:

शेक्सपियर का सहारा लें तो कहना होगा—

This thought is as a death, which cannot choose.

But weep to have that which it fears to lose.'

सृजन ही नहीं, संगीत लय करने की शक्ति भी रखता है। महादेवी के गीत इसके साक्षी हैं। उनके गीतों में सृजन की आनन्द-ध्वनि नहीं है। शैली को समग्रता में न देख सकने के कारण विषाद-रस-माधुर्य की समर्थक उसकी एक ही पंक्ति अनेक बार उद्धृत हुई है; ऐसे ही भवभूति की चतुरस्र प्रतिभा से परिचय न रहने के कारण अपनी बहुश्रुतता की प्रदर्शनी में 'एको रसः करुण एव' को सजाने की प्रथा है; किन्तु ऐसे न भौतिक तत्त्वों को समन्वित किया जा सकता है, न आध्यात्मिक तत्त्वों को। सज्जीत बिखरे हुए महाभूतों को एक लयात्मक अन्विति देता है, तब सृष्टि रची जाती है। आध्यात्मिक तत्त्वों में से भी यदि किसी एक को ही कस कर पकड़ लिया जाए, तो विभिन्न तत्त्वों का समन्वय कैसे होगा, और समन्वय संगीत का ही तो दूसरा नाम है।

०	३	x	२
मुं प धुं प मुं रे ग	मुं ग रे सा -	सा रे ग ग रे	रे ग मं ग मुं प
म नि ध प	म ध प -	रे ग म ग रे सा	नि रे सा -
ग - म ध	ज ध नि सां सां सां	जि रें ग रें सां नि ध नि	रें सां नि ध प म ग रे

इमन के इस करुण-मधुर सुर में निराला की अन्तर्ध्वनि गूँजे—

‘देख दिव्य छवि लोचन हारे !

रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रम रुचि,

पलक तरलतम, मृग-दृग-तारे !’

तो भौतिक आध्यात्मिक में उन्नीत हो उठे, फिर जहाँ आध्यात्मिक तारों का ही सुर-शृङ्गार हो, वहाँ कोई अनाड़ी ही—

‘मैं नीर-भरी दुख की बदली’ को बहार में छेड़ेगा। रोदन-राग में आध्यात्मिक गान प्राणवत्ता के अभाव का प्रमाण हो सकता है। ‘अरुण यह मधुमय देश हमारा’ ही असली आध्यात्मिक गीत है। निराला और पन्त ने ऐसे कितने ही गीतों की रचना कर रचनात्मक प्रतिभा का शाश्वत प्रकाश बिखेरा है।

जो नवों रसों का एकच्छत्र सम्राट् हो, करुण की प्रशंसा उसी के मुँह से शोभा पाती है। जो मत्तगयंद छन्दों या भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में पल्लेदार गले से रोता ही रोता रहा हो, उसे करुण की सर्वोत्तमता की अनुभूति कैसे हुई होगी? वह तो उस तीखी चीखवाले 'वीर' का विलोम है जो जैसे दूसरे रसों की तीव्र अनुभूति के अभाव का रोना रोता है जैसे चीत्कार-चिंघाड़वाला अपने व्यापक अनुभूतिदारिद्र्य की वीरता बघारता है।

(३)

मैं जिस युग में हिन्दी में कलम माँज रहा था, वह छायावाद युग था। जिसमें आंशिक रूप में ही सही, प्रकाशित हुआ, वह उसकी समाप्ति की घोषणा का काल था। जिस पन्त ने छायावाद-युग का आरम्भ किया, उन्होंने उसके अन्तकाल की भी घोषणा कर दी थी।

मैं समझता था, ऐसे ही एक व्यक्ति का युगातिशायी प्रभाव बँगला साहित्य में भी देखा गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र कोई एक कवि नहीं, बँगला के क्लासिक युग का प्रभाव समाप्त कर रोमाण्टिक युग की प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण श्रेय उन्हें ही प्राप्त है।

मेरी स्थिति दोलायमान थी। वेद-वेदाङ्ग के तपोवन से साहित्य के उपवन में लौट आया था। यहाँ संस्कृत में जो कुछ लिखा, नया लिखा। हिन्दी में भी कुछ ऐसा ही चाह रहा था। हिन्दी किन्तु संस्कृत की तरह शिलीभूत न थी कि मुझे मनचीती आकृति उरेहने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती। जो कवि तब चमक रहे थे उन पर बाह्य प्रभाव प्रकट था, अन्तःस्तर की गहराइयों में उन्हें नहीं ढूँढ़ा जा सकता था। सतही भाषा में सपाट बातें—उनके अस्तित्व को असाहित्यिक जनता में प्रचारित कर रही थीं। राजनीति से बघार देने के बाद तुकबंदियों की दाल गलती ही नहीं, सोंधी गन्ध के सबब साहित्य की मिट्टी में एक नई सोंधी गन्ध मिल जाती थी। छायावाद की अमित असीम उपलब्धियों को हवाई कहा जाने लगा था और तुकों की मारी मिट्टी की सड़ायँध मुझे सह्य न थी।

हिन्दी में देशकाल की सीमाओं में आवद्ध हुए बिना मुक्ति न थी और संक्रान्तिकाल में देश का निर्धारण परिवेश से कट कर संभव न

था। अन्तःसंघर्ष के ऐसे ही आहत क्षणों में मैंने पहली-पहली बार हिन्दी में जो गुनगुनाया, उसमें जीवन-संवेदना की समग्रता की माँग अनुवित ही कही जायगी।

काव्य-सौष्ठव के उपादान संस्कृत की विशाल परम्परा के भीतर से रसानुभूति को उपवृंहित करते हैं। युग-जीवन से सम्बद्ध मूल्य संस्कृत की चिन्ताधारा का लक्ष्य नहीं है। मैं जब सन् '३५-'३६ में युग-जीवन की व्यङ्ग्य-रङ्गी तसवीरें आँक रहा था :

नगनानेतान्ननु तनुतनून् बालकान् लोकमाना
पीतामेतां त्वमपि जरठे शाटिकामद्य वस्से
नैव स्तन्यं न च फलमलं कामयन्तेऽङ्कमेते
जाने पश्चाद्विहितवदने तत्त्वतो मृत्तिकाऽसि।

+

+

क्षुत्क्षामाणां श्रवणकुहरे क्रन्दनं मानवानां
कारं कारं किमसि कृपणे रत्नगर्भा भवन्ती
किं पार्श्वस्थैः परिचितजलैः सप्तभिस्सागरैस्तै
लज्जासिन्धौ कुजननि मतं मज्जनं पूर्णतस्ते।

—बन्दीमन्दिरम्

तब वह संस्कृत के लिए एक क्रान्तिकारी कदम था; किन्तु उसी समय जब मैं हिन्दी में—

सिन्धु - मिलन की चाह नहीं कुछ,
मुझको तो बहते जाना है!

दो पुलिनों से बँध कर भी,
कितनी स्वतन्त्र है जीवन - धारा !

रोक रखेगी मुझको कबतक,
मिट्टी - चट्टानों की कारा ?

अपनी तुझ तरङ्गों का ही,
रहता इतना बड़ा भरोसा

लौट - लौट कर मैं न देखता,
मुझको तो बहते जाना है !

—रूप-अरूप

लिखता था तब यह शङ्का सदैव आतङ्कित किए रहती थी कि यह पन्त,

प्रसाद, निराला, महादेवी से भिन्न स्वर है या नहीं? यह किसी की उपलब्धि की अनुगूँज मात्र तो नहीं है?

संस्कृत की कल्पलता में एक गरलफल फल भी गया तो उससे कहीं मथानी पड़नेवाली न थी; किन्तु हिन्दी में काव्य-निर्माण से अधिक युग-प्रवर्तन की हलचल मची थी; यहाँ कवि होने से पहले युगप्रवर्तक होना आवश्यक समझा जाता था। ऐसे में मैंने एक अन्योक्ति लिखी जो अन्ततः मुझी पर घटित हुई :

सर्गस्याद्यस्य हि बुधविधेर्निम्नगस्ते निसर्गं
श्चेदीशेऽहं किमिति वदितुं सर्वदोच्चाभिलाषः ?
त्वामुद्धतुं जल ! कृतमतिशयामतामेति मेघ—
रत्नं स्वच्छन्दं पुनरपि पतस्येव देवस्य देशात् !

—बन्दीमन्दिरम्

दरअसल कविता मेरे अपने ही अकृतार्थ जीवन से फूट कर आती थी, किताबी बातें दुहराना मेरा कतई लक्ष्य न था। तब मैं कविता लिखे बिना रह ही नहीं सकता था—संस्कृत में लिखता या हिन्दी में।

निराला ने कहा : संस्कृत प्रेस और प्लेटफार्म से दूर चली गई, हिन्दी में लिखो !

संस्कृत में जो होता, होता; हिन्दी में नोटिस न ली गई तो गीली मिट्टी की बड़ी भद्द होगी। इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः। ऐसे कैसे चलेगा ?

निराला ने कहा : चलेगा और खूब चलेगा ! छपास के पीछे न पड़ो, लिखते जाओ !

और मैं चुपचाप लिखता रहा :

‘मेरी शिथिल, मन्द गति ही क्यों,
गिरि, वन, सिन्धु-धार भी देखो !’

× ×

‘मेरा जीवन-घट भरा हुआ,
किस लिए सिन्धु-तट जाऊँ मैं !’

× ×

‘कैसे लौट चलूँ ?—पद-पद पर—

प्रिय-पद-रेखा री !

आज मिलें शायद, अदृष्ट को
किसने देखा री !'

—रूप-अरूप

किन्तु चाँदी-सोने की चमक-दमक वाली "श्री" जहाँ पुजती हो, वहाँ उजले फूलों के गहने पहने हुए सर्वशुक्ला सरस्वती का क्या हो ? मेरा अन्तस्ताप तप में नहीं बदला था; अकिञ्चनता काञ्चनवर्णा नहीं हुई थी; शब्दकोष में अर्थ-चिन्तामणि का ऐश्वर्य नहीं सञ्चित हुआ था ।

निराला के प्रति अन्ध श्रद्धा ही मेरी एकमात्र जमा-पूँजी थी । परमहंस रामकृष्ण देव के वचन माथे में गूँजते रहते थे : श्रद्धा के आँखें नहीं होतीं;—आँखोंवाली और अन्धी—श्रद्धा के ऐसी कोई दो श्रेणियाँ नहीं होतीं ।'

कवि-सम्मेलनों में बहुत-बहुत रूपए दे कर कुछ कवि बुलाए और रात-रात भर सुने जाते थे जब कि निराला को आजीवन रोटी के लाले पड़े रहे; कुछ कवि आने के वक्त से जाने के वक्त तक हर अवसर पर किस्म-किस्म के वेश बदलते रहते थे, जब कि निराला के पास दूसरा कुर्ता नहीं होता था, फिर भी मेरी अन्ध श्रद्धा को आँच न आई; बादशाह के उस्ताद होने की शोहरत के, दबदबे में आकर, मैं जौक को गालिब से बेहतर शायर न मान सका ।

लिखता रहा :—

‘नाविक, अभी सवेरा है !

तरी खोल झट, बोल कि वह—

तट भी पहचाना तेरा है !'

+

+

खो दूँ, अब अपनापन खो दूँ ?

नवजीवन के प्रखर ज्वार में—

बह जाऊँ रस-नेह-धार में ?

या जग के पङ्क्ति उर में—

अपने प्राणों को बो दूँ !

+

+

किसे सुनाऊँ करुण कथा ?

उनके तो रिपु भी जग में हैं

पर मेरा क्या कोई ?

बैठ बबूल-डाल पर वन में

काली कोयल रोई !

जगती जगती के मन में—

इच्छा : कोई गाता रे !

मैं कहती : इस पथ से भी

कोई आता-जाता रे,

: गा कर जिसे सुना सकती मैं

अपने मन की मौन व्यथा !

किसे सुनाऊँ करुण कथा ?

+

+

—रूप-अरूप

वैदिक युग के आचार्य वाष्प्यायिणि ने प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में छह प्रकार के संभावित विकार बतलाए हैं :—जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश ।^१ उनके अनुसार प्रत्येक भाव पैदा होता है; है; तबदील होता है; बढ़ता है; घटता है और नष्ट हो जाता है। बढ़ता है विजय से, घटता है पराजय से। वैज्ञानिक युग में भौतिकता की विजय ही संभावित है, आध्यात्मिकता क्या, भावात्मकता भी इस परिवेश में प्रशस्ति नहीं पा सकती। फिर भी मैं लिखता रहा :

मैं न गगन हूँ, मैं न मही हूँ !

जिसी नाम से मुझे पुकारो,

उसी रूप का बना, वही हूँ !

×

×

मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ,

जग मेरी वाणी कहे, कहे !

१. षड् भावविकारा भवन्तीति वाष्प्यायिणि :—जायते, अस्ति, विपरिणमते वर्धते, क्षीयते ।

बरसाऊँ तेरी सुधा-धार,
जग उसको पानी कहे, कहे !

× ×
अग्नि जले तब विफल न इन्धन,
मुक्ति कर्म का मर्म, न बन्धन,
उड़ा हाय ! जो सब से आगे,
वह अपने से पिछड़ा पंछी !
बना घोंसला पिजड़ा पंछी !!

तीर-तरङ्ग

इस संरचना के मूल में सामर्थ्य की सीमा हो तो हो, दुराग्रह न था। लाटरी के पैसों से लखपती बन जाने वालों का क्या जीवन-दर्शन होता है, मैं नहीं जानता; किन्तु जो क्षणिक भौतिक सुखों के लिए आत्मा का सौदा नहीं करते और जीवन भर दुःख पाते हैं, उनका तर्कतीत जीवन-दर्शन ही कदाचित् मेरी आस्था की टेर बन कर गगन में गूँजा था :

मत मिलें मुझे मोती-दाने.
मत मेरा श्रम कोई जाने;
पर बीच-सिन्धु से लौट चलूँ
कैसे लेकर सूनी गगरी ?

+ ×
रुक गई नाव जिस ठौर स्वयं,
माझी, उसको मझधार न कह !
कायर, जो बैठे आह भरे,
तूफ़ानों की परवाह करे,
हाँ, तट तक जो पहुँचा न सका,
चाहे उसको तू ज्वार न कह !

जैसे क्रान्ति के मूल में पर-विजय का भाव निहित रहता है ऐसे ही शान्ति का उद्गम आत्म-विजय है। जिसके आनुवंशिक अवचेतन पर भूमा की अमिट छाप लगी हुई हो, भूमि-हरण की क्षुद्रता उसके अस्तित्व का लक्ष्य हो भी कैसे सकती है ? समष्टि के उद्धार का

उद्घोष भी व्यष्टि की मुक्ति ही करती है।

आचरण के अभाव में कोरा दर्शन किसी काम का नहीं, दर्शन के अभाव में निरा आचरण अविवेकी अभ्यास मात्र है।

और, मैंने लिखा :—

मेरा भी अपना देश है !

मैं लक्ष्य-हीन चल रहा नहीं,

मेरा अलक्ष्य सन्देश है !

प्रकाश-पर्व

सृष्टि जब बनी थी तब अँधेरा ही अँधेरा था। ऐसा गहरा अँधियारा छाया हुआ था जैसे वह किसी दूसरे अँधियारे से—परत-दर-परत लिपटा हुआ हो ! प्रकाश पीछे आया। प्रकाश का साक्षात्कार करने वाली दृष्टि फिर खुली। उजाला अँधेरे का अगला कदम है।

अँधेरा चाहे जैसा शक्तिशाली हो, प्रकाश उसे खदेड़ देता है। दोनों आमने-सामने नहीं रह सकते हैं। यूँ हर प्रकाश के पीछे अँधेरा छिपा रहता है। सब तो यह कि अन्धकार की ऊष्मा न हो तो प्रकाश की प्यास जगे ही नहीं। हम तम से ज्योति की ओर जाने का नाम ही न लें।

अन्धकार बन्द करता है, प्रकाश खोलता है। जो अँधेरे में मुँदे हैं, वही प्रकाश में खुलते हैं। खुलते हैं यानी उनके मुखौटे उतर जाते हैं। उनका असली रूप सब पर खुल जाता है। जैसे एक हिस्सा धरती माता का है और तीन हिस्से जड़ जल के, ऐसे ही अन्धकार बेशुमार है और प्रकाश अपनी ही मर्यादा में। यही कारण है कि अन्धकार का नाश कभी नहीं होता, वह प्रकाश द्वारा एक जगह से दूसरी जगह खदेड़ दिया जाता है। हिमालय की चोटी से खदेड़ा जायगा तो उसी की गुफा में घुस जायगा। पेड़ की फुगनी से फटकारा जायगा तो उसी की सघन प्रलम्ब डालियों में छिप-छुप जाएगा। उसका आत्यन्तिक अभाव कभी नहीं होता।

तार्किक उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं स्वीकारते। कहते हैं, प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। तो वह सात पदार्थों में अभाव की भी गिनती करते हैं। अरे बाबा, अभाव अन्धकार नहीं तो क्या प्रकाश है ? जो भी नेगेटिव है, अन्धकार है। नेगेटिव से पॉजिटिव की ओर बढ़ना ही तो तम से ज्योति की ओर जाना है !

आदि कवि ने प्रकाश के साथ लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है।

‘प्रकाश लक्ष्म्याश्रय-निर्मलाङ्गो रराज चन्द्रो भगवान् शशाङ्गो ।’ दीपावली प्रकाशपर्व है इसीलिए इसमें लक्ष्मी की पूजा होती है। यह घनघोर तिमिरमयी काल-रात्रि लक्ष्मी के जोर से ही दीपावली, प्रकाशलक्ष्मी या प्रकाशपर्व में तबदील हो जाती है। जहाँ एक मिट्टी का दिया जलाने की भी सामर्थ्य नहीं है, वहाँ अभाव या अन्धकार का ही अखण्ड साम्राज्य होता है। वहाँ प्रकाश-लक्ष्मी नहीं होती। यूँ जैसे पतंगे रोशनदान पर सर पटक-पटक कर दम तोड़ देते हैं, मगर रोशनी देखने जाते जरूर हैं, कुछ ऐसे ही मजलूमों की टोली, जो अपनी झुगियों में दिया-बत्ती का जुगाड़ नहीं कर सकती, धन-कुबेरों की कोठियों की सजावट देखने निकल जाती है। फुलझड़ियों और आति-शवाजियों से जगर-मगर गलियों में चक्कर लगाने चली आती है। रोशनी देखती है और खुशी-खुशी अपनी अँधेरी झुगियों में लौट आती है। पतंगों की मानिन्द प्रकाश पाने की आखिरी कोशिश में अपने हक का नारा बुलन्द कर शहीद नहीं हो जाती ! दरअसल आँखें चूँधियाने वाली रोशनी ही इन अँधेरों को इनके योग्य झुग्गी-झोपड़ियों की ओर खदेड़ देती है। जहाँ प्रकाश की लक्ष्मी की पूजा हो रही हो वहाँ काली-कलूटी दरिद्रता को कौन खड़ा होने देगा ? अरे ओ पीढ़ी-दर-पीढ़ी के अँधेरो, क्या तुम इस भ्रम में तम बन रहे कि कोई तुम्हें ज्योति से मिला देगा ? ऐसा कभी न होगा। ज्योति भी अँधेरे से डरती है कि उसका तूफानी दौर कहीं उसे ही न बुझा दे ? घन-घटा उसे ही न ढक ले।

ज्योति जिसकी तरफ़दार है वह तुम नहीं हो ! खरबूजे को देख-कर खरबूजा रंग पकड़ता है। जिन गगनचुम्बिनी अट्टालिकाओं के रंगोरोगन की गंध नन्दनवन में फैलती है; जिनकी जगमगाती साज-सज्जा तारों-भरे गगन को नीचा दिखाती है, ज्योति वहाँ उतरती है, स्वर्ण-पद्मासन पर बैठकर रंगारंग बल्ब गिनती है और तिजोरियों के बन्द अन्धकार को असीसती है : किसी की नज़र न लगे !

मगर क्या तुम वाकई अपने उजाले की खोज में हो ? अगर हाँ, तो झटक दो अपने अँधेरे को और ऊँची आवाज़ में ऐलान कर दो कि तुम खुद चिराग़ हो ! तुम्हारे ही जलने से दुनिया को रोशनी मिलती है !

चिराग़ के नीचे रहने के आदी होकर, अपनी बरबादी की वजह खुद तुम्हीं हो ! हिम्मत हार बैठे हो कि अँधेरे-अँधेरे चल-चल कर

सदियाँ गुज़ार दीं, बाकी के दिन भी यूँही-यूँही गुज़र जाएँगे ! कौन जाए मौजूदा हालात से लड़ने ? सदियों की सदाएँ बेकार न होंगी, कोई प्रकाश-लक्ष्मी का लाड़ला तुम्हें तम से ज्योति की तरफ़ हाँक ले जाएगा !

आओ, इस प्रकाश-पर्व के मुबारक मौके पर सुदृढ़ संकल्प लो कि अब और मुग़ालते में न रहेंगे कि कोई बाँह पकड़ कर तुम्हें उजाला दिखाने ले जायगा ! प्रार्थना व्यर्थ है। खुद आगे बढ़ो ।

° ° °

दीवाली हर साल आती है और अँधेरे को मुँह चिढ़ाकर चली जाती है कि आकाश से चाहे जितना अन्धकार बरसे मिट्टी को वह स्वीकार नहीं, यह नन्हा-सा दिया मिट्टी का अन्धकार जलाने जल रहा है। अँधेरा जब भी सर उठाएगा, दिया उसे अपने कदमों में घसीट लाएगा !

जहाँ सूरज-चाँद सितारे रहते हैं वहीं अन्धकार रहता है। धरती पर इन्सान रहते हैं। उनके ईमान होता है। ईमान के गिर्द अँधेरा नहीं रह सकता। वह प्रकाश के लिए प्राण जला देता है। □

आऊँ माँ ?

आज सुबह-सवेरे घूमने निकला तो गोशाला वाले रास्ते से सर्वो-दयग्राम की ओर बढ़ता चला गया। नए साल का पहला सवेरा। सीधा रास्ता धुन्ध में डूबा हुआ। टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियाँ कुहरे के भीतर से बगलें झाँकती हुई।

जहाँ तक नज़र जाती, हमदर्द सर्दों और हमराही कुहरे के सिवा किसी और के अस्तित्व का एहसास न होता। फीकी-फीकी मनः-स्थिति रंगीन अनुभूतियों से बटी हुई। अपनी गहन गहराइयों में हवा की ताज़गी भर कर थके माथे की ऐंठती-सी नसें सीटी बजाती हुई। मैं तब टैगोर गुनगुना रहा था—सवारे दिये छे घर, आमारे दियेछे शुधु पथ !

सबको तुमने घर दिया, मेरे आगे रास्ता भर फैला दिया ! ज्यों माँ के आँचल से खींचकर खुले आसमान के नीचे खड़ा कर दिया !

गौशाला के फाटक के समीप हल्का-हल्का प्रकाश पेड़ों की सघन-प्रलम्ब डालों से छन रहा था। भीतर एक दुधमुँहा बछड़ा—‘आऊँ माँ ? आऊँ माँ ?’ की रट लगाए हुए था। उसी करुण स्वर में रँभा-रँभा कर माँ उसे आश्वासन दिए जा रही थी कि अभी ठीक-ठीक सवेरा नहीं हुआ। उसने मुन्ने के लिए जो दूध अपने भारी थन में जमा किया है, उसे ग्वाला मुँह-अँधेरे धर्म-घट में दूह लेगा। तब कहीं उसे भी घूँट-दो-घूँट पीने के लिए मिल सकेगा। डेरी-फार्म होता तो उसे वैज्ञानिक ढँग से गोली मार कर अब तक हमेशा के लिए चुपा दिया गया होता। यह तो कट्टर हिन्दुओं के चन्दे से चलने वाली धार्मिक गोशाला है, अभी-अभी महीने-दो-महीने बाद उसे पाँच-सात के बोल पर नीलाम कर दिया जायगा। तब तक धीर धरे तो अच्छा !

अरे मुन्ने, तेरी माँ खूँटे से बँधी है। वह अपने से कहीं शहज़ोर आदमी के शिकंजे में पड़ी तड़प रही है। कुछ दिन जी लेने की सुविधा

के एवज में वह तेरा दूध उसके हाथों बेचने पर मजबूर है। वह ज़माना कब का लद गया जब कालिदास ने लिखा था :—

धुर्याणां च धुरोमोक्षमदोहं चादिशद् गवाम्

कि अब से बैल बोझ न ढोएँगे; गाएँ दुही न जाएँगी।

मुन्ने ! तू माँ की दुआ से सेहतमन्द रह। धर्म का कारोबार बढ़ाने-वाले से तुझे गिला क्यों हो ? तू माँ का थन जूठा भर कर दे, यही तेरी नियति है।

हाय री नियति ! बुद्ध-जैसे ज्ञानी भी तो मनुष्यों की ही आचार-संहिता गढ़ते रह गए, निरीह पशु-पक्षियों के लिए भी कुछ न कर सके। जो हिंसक हैं वे वैदिक हों या बौद्ध, क्या फ़र्क पड़ता है ? अश्रु-सिक्त समवेदना से उसका शोला तड़पकर और भड़क उठता है !

एक भिक्षु ने शिक्षा दी थी : मानव-मन के दया-द्रवित होने से ही सबका भला होगा।

मेरा तर्क था कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्'—एक जीव दूसरे जीव का आहार है—की उपदेशक प्रकृति का भी ? ज्ञान-विज्ञान की अति-रिक्त वृद्धि के इस विस्मयकारी युग में भी कहीं बकरे की माँ खैर मनाती दिखती है ? अवचेतन से ऊर्ध्वचेतन विकास तक के राजपथ अनगिनत पशु-पक्षियों के बिलखते प्राणों पर से ही तो गुज़रे हैं। कदाचित् मानवेतर प्राणियों के समूल विनाश का ही दूसरा नाम मानवीय चेतना का ऊर्ध्व-मुख-विकास है ! मेरा अज्ञानान्धकार ऐसा सतही नहीं कि वह व्यक्ति कल्याणकारी वैराग्य के वाञ्छक प्रकाश से सामूहिक स्तर पर कट-छूट जाए ! कोई सिद्ध पुरुष मुझे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से परे तुरीयावस्था में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से ऊपर उठने में सहायता प्रदान कर सकता है, पर बकरी के इन दुधमुँहें बच्चों का क्या हो जो अभी मुँह अँधेरे माँ-माँ चिल्लाते हुए अपने ही पैरों घिसट कर वधशाला की ओर चल पड़े ? इनका मर्मन्तिक क्रन्दन कैसे सुनूँ ?

मैं अपने मन, वचन और समस्त इन्द्रियों को बुद्धि में अवरुद्ध कर बुद्ध की शरण में जा रहा हूँ।

कैसे बचें ये बच्चे जो अहिंसा पर प्रवचन पिलाने वालों के पेट में दो और नए अहिंसक तत्त्वों की खुजली पैदा कर पच जाएँगे ? जिनके

लिए उषा अकाल मृत्यु के अन्धकार का, और चन्दनगन्धो हवा रक्त-रञ्जित वधशाला की दुर्गन्ध का ही सन्देश लाती है? क्या होगा ब्राह्ममुहूर्त में जगकर? प्रातर्भ्रमण कर? सूर्यदेव को नमस्कार कर? इनकी रोशनी में हत्यारे हँसें और मासूम आँखें बुझ जाएँ; यह काले चेहरे पर लाल गुलाल मला करें और मैं इनकी विरुदावली गाऊँ? कवि मयूर के सूर्यशतक की आवृत्ति करूँ?

बन्दरों की मदद से इनकी कुलवधू सीता बच गई; एक झबरे ऋषि की बदौलत लव-कुश पल गए; मगर मुफ़लिसी को सीता कैसे बचे? फुटपाथ के लवकुश कहाँ पले? गाएँ और बकरियाँ जिन्हें अपना दूध पिलाकर पालती हैं वे क्या उनके गले पर छुरी नहीं चलाते? माता का नाता भी तो काम नहीं आता।

जो लोग लोकगीतों की लोक पर कलम दौड़ाते हैं, वह भी भावुकता के खिलाफ़ हैं। कमाल है! भावुकता के अलावा कोमल भावनाओं का अस्तित्व और कौन स्वीकारेगा? लोक-गीतों के शब्द भावुकता में पले हैं; लोकगीतों की धुनें भावना के रसस्रोत से फूटी हैं। अगर वह हमें भावाकुल न करें तो अमीरों के कोड़ों और शिकारियों की बन्दूकों को ही वैज्ञानिक वाद्य-यंत्र मानना होगा।

रोष और आक्रोश से नहीं, मेरा मन आत्म-वञ्चना के दरबारी सुरों से सज गया। दीपक की पुकार पर पतंग अधीर होकर चला आता और लहकती लौ के गिर्द चक्कर काटकर अपनी जान गँवा देता है; बीन की बावरी धुन पर हिरना प्राण निछावर कर देता है!

देता है तो दे, अपनी बला से। मैं इन कीड़े-मकोड़ों, जंगली जानवरों के बारे में सोच-सोचकर क्यों माथा खराब करूँ? सोचना ही है तो मानवता के बारे में सोचूँ—तत्त्व-चितक कहलाऊँगा। दण्ड-नीति कैसे गधे को घोड़ा बनाती है, इसकी रचना-प्रक्रिया पर स्याही पोत दूँ तो मैं भी सेठों की पत्रिकाओं में कितनी ही मुद्राओं में मुद्रित हो जाऊँगा और एक, दो नहीं, कई हफ़्ते अमर रहूँगा।

जनम का कीड़ा चला प्रकाश को प्यार करने! प्रकाश भी कैसा,—मानवीय परम्परा की आत्मा की आँत से निकला हुआ! 'न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकम्!'

जनम का जानवर, निकला सुन-सुनकर सिर धुनता हुआ! जा,

मर । वेद पढ़ा होता तो भेद मालूम होता :

पुरुषस्य वाक् रसः

वाचः ऋक् रसः

ऋचः साम रसः

साम्नः उद्गीथो रसः ।

रस पुरुष के लिए है; मानवता के लिए है; जानवर आचार्य शुक्ल के घपले में पड़कर प्रकृति-प्रेम प्रदर्शित करेगा तो मरेगा नहीं ? मानवता के व्यापक क्षेत्र में पशुओं की संकुचित प्रीति-प्रतीति ! निसर्ग का उत्सर्ग सौंदर्यशास्त्र के दायरे में आएगा ? किट्स का 'लास्ट सॉनेट' कस्तूरी-मृग समझेगा ? 'नाइटिंगेल' का दीवाना पतंग या कुरंग हुआ चाहता है ?

'Now more than ever seems it rich to die.'

जा मर । हिरने का संगीत-प्रेम चर्चाया है तो उसी की मौत मर । मानवता तुझे माफ़ कर अपने सफ़ेद और उजले दामन में दाग न लगाएगी ।

×

×

×

न; अब मैं प्रातर्भ्रमण करने न जाऊँगा । हरचंद हाथ कलम हों कि दर्द की रंगीनी में कयामत का निखार आ जाए—मेरे मन को मंजूर नहीं है । खूने-दिल में उंगलियाँ डुबोकर बापू ने अहिंसा की तसवीर उरेही थी—किसे भाई वह ? चंद लफ़्फ़ाजों ने दैत्य की दंष्ट्रा—जैसे खूनी शब्दों में उसकी तारीफ़ की; किसी ने उनके सीने में तलवार की नोक धँसाकर उसे चील-गीधों-भरे आसमान में उछाल दिया, कोई उसे बतौर रिश्वत किसी खाऊ अफ़सर की मेम साहब को रसोईघर में दे आया !

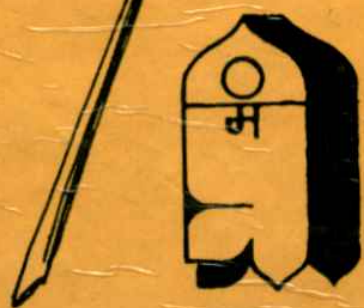
ईमान को जल्लादों के तरुण-अरुण हाथों में साँप दो, खेतों में मुर-भुखों की हड्डियों की खाद डालो, धूल-भरे जिस्म को धूल में मिल जाने दो; मेहनतकशों का खून-पसीना आलीशान कोठियों वाली चौड़ी सड़क पर बिकने दो; कमजोरों के मुँह का आँसुओं-सिंचा घास बोटलों में बन्द हो जाने दो और किलिक की कलम से लिखो : काग को भाग कहा कहिए...

विश्रुद्धल विचारों का तूफ़ान थम गया। पेड़-पौदे काँपकर थिर हो गए। पत्ते टूटे, उड़ गए; पत्तियों का मर्मर बिखर कर संवर गया। घन धिरे। मोती गिरे गगन से। जल चंचल हुआ। लहरें उठीं, भँवरों में चकराईं। ऊँचे बोल लाल डोरों में उलझ गए। लबरेज तालों में डूब गए। मनचीते ठौर पर पहुँचने पर पता चला, प्रलय पार कर गया। कुमति को जीत लिया। पथ के शूल तब डराएँ जब फूलों की हँसी न सुहाए।

अगले क्षण को अस्वीकार मौजूदा में मगन मेरे मन की, कुत्ते-बिल्लियों वाली हक्स्लेवादी लगन का क्या कहना? मौलसिरी से जपा कुंज के बीच मेरा घेराव कर भैरव-भैरवी में सब अपनी-अपनी सुनाने लगे। मैंने देखा, इर्द-गिर्द सन्नाटा है। पुचकार कर कहा : अभी ठीक-ठीक सवेरा नहीं हुआ।

—०—

एक असाद्विह्यक की डायरी



प्रीति मन्दिर प्रकाशन